UNIVERSAL
LIBRARY

OU_186005

UNIVERSAL
LIBRARY

मूल्य : चार रुपये
प्रकाशक : राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मुद्रक : युगान्तर प्रेस, दिल्ली

समर्पण

कवि-शार्दूल निराला
काव्य-श्री महादेवी
और
'संतों में सुमधुर कवि'
सुमित्रानंदन पंत
को

अपने पाठकों से

अपनी कविताओं का एक नया संग्रह आपके हाथों में रख रहा हूँ।

मेरी छंदबद्ध कविताओं का पिछला संग्रह 'आरती और अंगारे' था, जो मार्च १९५८ में, और छंदमुक्त कविताओं का, 'बुद्ध और नाचघर', जो अक्टूबर १९५८ में प्रकाशित हुआ था। प्रस्तुत संग्रह में तब से लेकर आज तक की रचनाएँ हैं—लगभग तीन वर्षों की। संग्रह प्रकाशित करने के विचार से जब मैं अपनी पांडुलिपियों को देखने लगा तब मैंने पाया कि इस बीच मैंने तीन प्रकार की कविताएँ लिखी हैं जो लगभग बराबर-बराबर संख्या में हैं—कुछ छंदोबद्ध हैं, कुछ मुक्त छंद की हैं और कुछ लोकधुनों पर आधारित हैं ; और इन तीनों प्रकार की रचनाओं को मैंने एकसाथ प्रकाशित करने का निश्चय किया—साथ-साथ ही वे विभिन्न सामयिक पत्र-पत्रिकाओं में छपती भी रही हैं। संग्रह का 'त्रिभंगिमा' नाम, आशा है, मेरे पाठकों को सार्थक जान पड़ेगा।

किसी भाव, विचार, प्रेरणा ने किसी विशेष विधा का रूप क्यों लिया, इसे तो मैं भी नहीं जानता। रचना सफल हुई हो तो कहना पड़ेगा कि मेरी सृजन-शक्ति का नियोजन ठीक दिशा में हुआ। रचना के सफल अथवा असफल होने का निर्णय मुझे नहीं देना है।

तीन वर्षों में मेरी जिन अनुभूतियों, कल्पनाओं, भावनाओं, मेरे जिन विचारों, जिन मानसिक संवेगों, मंथनों, चिंतनों अथवा, एक शब्द में, मेरी जिन संवेदनाओं ने कविता का रूप लिया—वह जैसी भी बन पड़ी हो—उनकी एक तालिका आपके सामने रख दी गई है। इन संवेदनाओं ने अथवा इन्हीं संवेदनाओं ने मुझे क्यों प्रेरित किया, इसका भी उत्तर मेरे पास नहीं है।

यदि हम और आप एक ही युग-समाज में रह रहे हैं तो यह स्वाभाविक है

कि आपकी बहुत-सी संवेदनाओं की प्रतिध्वनियाँ मेरी संवेदनाओं में मिलेंगी, अथवा मैं अपनी संवेदनाओं से आपकी संवेदनाओं को उकसाने-जगाने में सफल हो सकूंगा। वही कवि सबसे अधिक सफल समझा जाएगा जो अपने युग-समाज की समस्त मूलभूत, व्यापक और तत्त्वपूर्ण संवेदनाओं से स्वयं प्रेरित हो और दूसरों को भी प्रेरित कर सके। मेरी संवेदनाओं का आज के युग-समाज में क्या स्थान, क्या महत्त्व है, और वे कितनों की, और कितनी संवेदना जगाने में समर्थ हो सकेंगी, इसका निर्णय करना अथवा अनुमान लगाना भी मेरा काम नहीं है।

तब आदर्श स्थिति यही रह जाती है कि मैं अपनी कविताएँ आपके सामने रख दूं और बीच से हट जाऊँ; जो मैं अपने सृजन के क्षणों में अपनी रचना में नहीं कह सका उसे इन पंक्तियों से कैसे कह सकूंगा! इन पंक्तियों का ऐसा कुछ ध्येय भी नहीं है। फिर भी आपके दृष्टिकोण एवं उपनयन (एप्रोच) को मैं निर्देशित करना चाहूँगा, क्योंकि इससे मुझे और मेरी रचनाओं को, मेरा ऐसा ध्यान है, आप ठीक परिप्रेक्ष्य में देख सकेंगे, गो उनके संबंध में आप अपना दृष्टि-कोण एवं उपनयन रखने के लिए पूर्णतया स्वतंत्र हैं।

वैसे तो कोई भी रचना अपने युग-समाज से अस्पृष्ट अथवा अप्रभावित नहीं रह सकती, पर उनके साथ दो और सत्यों पर भी दृष्टि रखनी चाहिए—युग के साथ शाश्वत पर, समाज के साथ व्यक्ति पर। युग की समस्त परिवर्तन-शीलता और विविधता के साथ शाश्वत का एक अंश अभिन्न रूप से जुड़ा होता है। इसीसे परम्परा की शृंखला बनती है, एक युग की रचना दूसरे युग में आकर्षक लगती है, एक देश-भाषा की कृति दूसरे देश और भाषा में समादरित होती है। दूसरी ओर, समाज के पूरे परिवेश से घिरे रहने के बावजूद व्यक्ति कभी-कभी उससे अलग होकर खड़ा हो जाता है, या खड़ा होना चाहता है, जैसे वृत्त में घूमते-घूमते कोई बिंदु स्पर्श अथवा सम्पाति रेखा (टेंजेंट) में खिंच जाए। जहाँ उससे समाज की कोई सीमा, संकीर्णता, न्यूनता अथवा दुर्बलता सिद्ध होती है, वहाँ उसकी शक्ति और सहिष्णुता भी सिद्ध होती है कि वह ऐसे व्यक्तियों को जन्म देता है, उन्हें सहन करता है। साथ ही यह भी सत्य है कि व्यक्ति की यह एकाकिता, विलक्षणता अथवा निरंकुशता की सीमा पर पहुँचकर भी, समाज में ही सन्निहित किसी सूक्ष्म अथवा अज़ाहिर प्रवृत्ति की द्योतक होती है। मैं अपने पाठक से प्रत्याशा करूंगा कि न वह शाश्वत से उदासीन

रहे और न व्यक्ति से चिढ़े अथवा भड़के। युग के साथ शाश्वत और समाज के साथ व्यक्ति के प्रति सजग-सहानुभूतिपूर्ण रहना संस्कृत एवं उदार व्यक्तित्व का चिह्न है।

दूसरी बात जो मैं कहना चाहूँगा, वह यह है कि ये रचनाएँ गीत हैं, या गीतवत्, गीतपरक अथवा गीतात्मक। गेय होने से ही कोई रचना गीत नहीं हो जाती। गीत वह है जिसमें भाव, विचार, अनुभूति, कल्पना, एक शब्द में कथ्य की एकता हो और उसका एक ही प्रभाव पड़े। मेरे जीवन की परिस्थितियाँ मुझे एक समय में एक ही कथ्य से उलझने, झगड़ने, जूझने की सुविधा दे पाती हैं। ऐसे अवसरों का जो उपयोग मैंने किया है, वह आपके समक्ष है। एक कथ्य का दूसरे कथ्य से संबंध है भी, और नहीं भी है। संबंध का सबूत तो यही है कि वे एक विशेष कालावधि में मेरे दिमाग में आए, बिना किसी सिलसिले अथवा तरतीब के बातें केवल पागल के दिमाग में आती हैं, हालाँकि मैं अपनेआप को बिलकुल सरेख भी नहीं कह सकता, शायद कोई नहीं कह सकता। मैंने कहीं किसी बड़े मनोवैज्ञानिक की राय पढ़ी है कि हम सब लोग थोड़े-बहुत पागल होते हैं; यह और बात है कि हमारे पागलपन में कोई सलीका (मेथड इन मैडनेस) भी होता है। आप उसे पहचानने की कोशिश करें। और, इनके अलगाव का प्रमाण यह है कि इनमें से किसीको भी आप लें, वह अपनेआप में पूर्ण है और अपने अर्थ, व्याख्या अथवा प्रभाव के लिए किसी दूसरे कथ्य पर निर्भर नहीं है। फिर भी इन सब रचनाओं को पढ़ने के बाद आपके सामने मेरे संवेदन-क्षेत्र अथवा मेरी सृजन-प्रक्रिया का जो चित्र खिंचेगा उसके रंग, रेखा, प्रकाश, छाया में कोई साम्य अथवा संतुलन दिखलाई पड़ेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

एक बात और। सभी प्रकार की कविताओं के लिए—विशेषकर गीतों के लिए—मेरा आग्रह है कि उन्हें आँख से, मौन रहकर नहीं, कंठ से, सस्वर पढ़ना चाहिए। अच्छी कविता में उच्चारण के अवयवों के संचालन से एक विशेष प्रकार का सुख मिलता है। यह सुख हमेशा रसगुल्ले खाने का सा न होगा। रेवड़ियाँ तो कड़ाकेदार ही अच्छी लगती हैं। साथ ही शब्दों के सबसे बड़े पारखी कान हैं। आँख तो शब्दों के चिह्न भर देखती है, पर शब्द और चिह्नों में उतना ही अंतर है, जितना संगीत की लिपि (नोटेशन) और संगीत में। अभ्यस्त

आँख मानसिक ध्वनि भी पैदा कर लेती है। उच्चारण और श्रवण से मस्तिष्क के केन्द्र भी एक विशेषता लेकर स्फुरित होते हैं जिससे कविता को उसकी परिपूर्णता में ग्रहण करना संभव होता है।

मेरी छंदबद्ध रचनाओं से आप पूर्व-परिचित हैं। लोकधुन पर आधारित गीतों में पंक्तियाँ मात्रा पर आधारित न होकर लय पर आधारित हैं। ये लय-धुनें उत्तरप्रदेश में बहुत प्रचलित हैं; बाहर के लोगों को इनको समझने में कुछ कठिनाई होगी। इसका हल यह था कि कुछ नमूने के गीतों के रेकार्ड बनवा दिए जाते। हम इतने साधन-सम्पन्न अभी कहाँ! इन लयों को पाठकों तक पहुँचाने का माध्यम केवल कवि-सम्मेलन अथवा रेडियो है। मुझे अवसर मिला तो इस दिशा में प्रयत्न करूँगा; आप भी सजग रहें।

मुक्त छंद की रचनाएँ भी गद्य में नहीं हैं जो छोटी-बड़ी पंक्तियों में यथा-सनक तोड़ दिया गया है। उन्हें भी आप सस्वर ही पढ़ें। आपको उनमें निहित लय और उसकी अनुकूलता का आभास होगा।

कविता से कुछ प्राप्त करने के अभिलाषी उसके पास ठीक तरीके से पहुँचें। वह क्या देती है, क्या नहीं देती, क्या देने में समर्थ है, क्या देने में असमर्थ—इसका निर्णय तभी ठीक हो सकेगा।

अन्त में एक सफ़ाई भी। 'आरती और अंगारे' की भूमिका में मैंने 'प्रणय-पत्रिका' और 'आरती और अंगारे' के गीतों को एक विशेष योजना के अंतर्गत बताया था। मैंने यह भी कहा था कि इसी योजना को पूर्ण करने को भविष्य में मैं गीत 'मेरे और तुम्हारे बीच' शृंखला में लिखूँगा। इस संग्रह में भी कुछ गीत हैं जिनको मैं इस शृंखला में रखना चाहता, पर ऐसे गीत मैं अधिक नहीं लिख सका। प्रेरणा का पवन कविता की तरी को कब किस ओर बहा ले जाएगा, कोई नहीं कह सकता। मैं अपनी टेक रखने को यत्न-श्रम करता तो परिणाम शायद ही अच्छा होता, कम से कम उससे मुझे संतोष न होता। मैंने अपनी नाव तेज़ हवा के रुख़ पर छोड़ दी। मैंने तजुर्बेकार मल्लाहों से सुना है कि जब हवा तेज़ हो तो डाँड छोड़कर पतवार सँभालनी चाहिए। मैंने वही किया है। कविता की तरी की पतवार क्या है? इसे आप बताएँ। मैं थोड़ा संकेत आपको कर दूंगा। पतवार का काम है दिशा-निर्देशन। इसीके सहारे मैं जिस तिकोने-डेल्टा पर पहुँच गया हूँ, उसपर आप भी पहुँच सकते हैं। आएँ,

मेरी तरी में बैठें। मैं तो यही शुभकामना व्यक्त करूँगा कि आपका सफ़र आनंद-मय हो, आपकी मंज़िल मंगलमय—'लहरों का निमंत्रण' पढ़े हुए आपमें कुछ साहसिक वृत्ति भी है न?—क्योंकि समीर के शीतल-मंद झकोरे कभी-कभी बिज्जु-बवंडर में भी बदल जाते हैं।

बहुत-से लोग यह भी पूछेंगे या जानने की कोशिश करेंगे कि साहब, हवा का रुख़ क्यों बदला, और अगर बदला भी तो इधर ही या उधर ही क्यों हुआ। शायद वे ऋतु-विज्ञान की सहायता से, समय के तापमान, घटनाओं के रक्तचाप, संभावनाओं के कोण-माप, संकेतों के मोड़-नाप आदि का जोड़-तोड़ बिठा कोई अटकल लगा भी लें पर आपको, शायद, इस प्रकार सिर खपाने की न ज़रूरत है और न फ़ुरसत ही और न मुझे ही थी। तो यह रही नाव, ये रहे हवा के झकोरे, ये रहे पानी के हिलकोरे,

चढ़ना हो जिसे चढ़ जाय,
नैया जाती है!

१३, विलिंगडन क्रिसेंट, बच्चन
नई दिल्ली–११
२१–१२–६०

पुनश्च : 'त्रिभंगिमा' की प्रेसकापी बनाने में सहायता देने के लिए श्री आशानंद और श्री रामप्रकाश के प्रति, और कविताओं का क्रम बिठाने में सहयोग देने के लिए कविवर अजितकुमार के प्रति आभार प्रकट करता हूँ।

बच्चन

क्रम

नैया जाती है	१६
पगला मल्लाह	२१
गंगा की लहर	२४
सोन मछरी	२६
धीमर की घरनी	२६
लाठी और बाँसुरी	३१
माटी की महक	३३
आज दिवाली	३६
ढोलक-लय	३८
धारा में बहते फूल	४१
छतनार बिरवा	४३
कड़ी मिट्टी	४५
भीगी सहेलियाँ	४७
किसानिन का गीत	४६
चिड़ियों का भाग	५१
खोई गुजरिया	५३
नील परी	५५

मोती का मोल ५८
अनसँवरी ६०
महुआ के नीचे ६२
छोटी हुई दुनिया ६४
गोरी नागिन ६६
मैना दूत ६८
आँगन का विरवा ७०
आ गया घाट ७२
फिर चुनौती ७४
यात्री से ७७
कवि और वैज्ञानिक ७९
ढाई अक्षर ८२
मिट्टी से हाथ लगाए रह ८४
मैंने ही न देखा ८७
मौन यात्री ८९
जादूगर का जादू ९१
तुम्हारी नाट्यशाला ९३
गीतशेष ९६
चिड़िया और चुरुंगुन ९८
गत और अनागत १००
रात-राह-प्रीति-पीर १०२
शब्द-मानव-काल १०३
जीवन भुक्त १०५
जाल-समेटा १०६
ये काम पर जानेवाले १०८
युग के दीप १११
युग की उदासी ११३

बलि की प्रथा ११५
राष्ट्रीय बाल-दिवस ११६
थल-सेना का प्रयाण-गीत १८
नौ-सैनिकों का प्रयाण-गीत १२०
स्वागत-गान १२२
—के जन्म-दिन पर १२४
—के जन्म-दिन पर १२६
चित्रलेखा १२८
गीत-निष्ठा १३२
विशुद्ध कविता १३५
छुरी और मूठ १४०
जब नदी मर गई—जब नदी जी उठी १४३
तुम्हारी आँखों में—तब और अब १४६
टूटे सपने १५३
युग की विकृतियाँ १५७
दर-दर निछावर १६०
कवि से १६४
अमरबेली १६७
अक्षयबट १७३
चेतावनी १७८
मिट्टी का द्रोणाचार्य १८४
इंसान और कुत्ते १८७
ताजमहल १९२
विकृत मूर्तियाँ १९६
दीपक, पतिंगे और कौए २०१
सड़ा हुआ कमल २०५
वह भी देखा : यह भी देखा २०८

१९६० की दीवाली २१०
गणतंत्र-दिवस २१२
खजूर २१८
महागर्दभ २२१
दानवों का शाप २३२
अंधा, पर गूंगा-बहरा युग नहीं २३९

त्रिभंगिमा

नैया जाती है

(ढोलक पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

चढ़ना हो,
चढ़ना हो जिसे चढ़ जाय, नैया जाती है।

चंदन की यह नाव बनाई,
कोमल कमल दलों से छाई,
फूलों की झालर लटकाई,
रेशम के हैं पाल, छटा छहराती है।
चढ़ना हो,
चढ़ना हो जिसे चढ़ जाय, नैया जाती है।

छूता है मस्तूल गगन को,
बाँस, नदी तल की धड़कन को,
डाँड, लहरियों की सिहरन को,
पीछे से पतवार दिशा दिखलाती है।
चढ़ना हो,
चढ़ना हो जिसे चढ़ जाय, नैया जाती है।

केवट हैं सुकुमार - सलोने,
रंग - उमंगों के मृग - छौने ;
दृग, मुकुलित सपनों के दोने ;
बांहों में उत्साह बयार जगाती है ।
चढ़ना हो,
चढ़ना हो जिसे चढ़ जाय, नैया जाती है ।

ये जाएँगे अमरपुरी को,
ये खोजेंगे अलखपरी को,
बरने को युग-युग अबरी को,
अद्‌भुत एक पुकार कहीं से आती है ।
चढ़ना हो,
चढ़ना हो जिसे चढ़ जाय, नैया जाती है ।

फूल चढ़ाया, अतल समाया,
अक्षत जल तल पर उतराया,
सगुन अमंगल-मंगल पाया,
हों भगवान सहाय, नैया जाती है ।
चढ़ना हो,
चढ़ना हो जिसे चढ़ जाय, नैया जाती है ।

पगला मल्लाह

(उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

डोंगा डोले,
नित गंग-जमुन के तीर,
डोंगा डोले ।

आया डोला,
उड़न खटोला,
एक परी परदे से निकली पहने पँचरँग चीर ।
डोंगा डोले,
नित गंग-जमुन के तीर,
डोंगा डोले ।

आँखें टक-टक,
छाती धक-धक,
कभी अचानक ही मिल जाता दिल का दामनगीर ।
डोंगा डोले,
नित गंग-जमुन के तीर,
डोंगा डोले ।

नाव बिराजी,
केवट राजी,
डाँड छुई भर, बस आ पहुँची संगम पर की भीड़ ।[1]
डोंगा डोले,
नित गंग-जमुन के तीर,
डोंगा डोले ।

मन मुसकाई,
उतर नहाई,
'आगे पाँव न देना, रानी, पानी अगम-गभीर' ।
डोंगा डोले,
नित गंग-जमुन के तीर,
डोंगा डोले ।

बात न मानी,
होनी जानी,
बहुत थहाई, हाथ न आई जादू की तस्वीर ।
डोंगा डोले,
नित गंग-जमुन के तीर,
डोंगा डोले ।

इस तट, उस तट,
पनघट, मरघट,

---

१. गीत प्रयाग में गंगा-जमुना के संगम को ध्यान में रखकर लिखा है । वहां पहुंचने के लिए लोगों को गंगा या जमुना के तट से एक-डेढ़ मील नाव से जाना होता है ।

बानी अटपट ;
हाय, किसीने कभी न जानी माँझी-मन की पीर ।
डोंगा डोले,
नित गंग-जमुन के तीर,
डोंगा डोले । डोंगा डोले । डोंगा डोले ।···

गंगा की लहर

(सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

गंगा की लहर अमर है,
गंगा की ।

धन्य भगीरथ
के तप का पथ ।
गगन कँपा थरथर है ।
गंगा की,
गंगा की लहर अमर है ।

नभ से उतरी .
पावन पुतरी,
दृढ़ शिव-जूट-जकड़ है ।
गंगा की,
गंगा की लहर अमर है ।

बाँध न शंकर
अपने सिर पर,
यह धरती का वर है।
गंगा की,
गंगा की लहर अमर है।

जह्नु न हठ कर
अपने मुख धर,
तृषित जगत-अंतर है।
गंगा की,
गंगा की लहर अमर है।

एक धार जल
देगा क्या फल ?
भूतल सब ऊसर है।
गंगा की,
गंगा की लहर अमर है।

लक्ष धार हो
भू पर विचरो,
जग में बहुत ज़हर है।
गंगा की,
गंगा की लहर अमृत है,
गंगा की लहर अमर है,
गंगा की।

सोन मछरी

संत्यज्य मत्स्यरूपं सा दिव्यं रूपमवाप्य च—महाभारत १।६३।६६।

(स्त्री-पुरुषों के दो दल बनाकर सहगान के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित जिसे 'ढिढिया' कहते हैं)

स्त्री

जाओ, लाओ, पिया नदिया से सोन मछरी ।
पिया, सोन मछरी, पिया, सोन मछरी ।
जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी ।

उसकी हैं नीलम की आँखें,
हीरे-पन्ने की हैं पाँखें,
वह मुख से उगलती है मोती की लरी ।
पिया, मोती की लरी, पिया, मोती की लरी ।
जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी ।

पुरुष

सीता ने सुबरन मृग माँगा,
उनका सुख लेकर वह भागा,
बस रह गई नयनों में आँसू की लरी ।

रानी, आँसू की लरी, रानी, आँसू की लरी।
रानी, मत माँगो नदिया की सोन मछरी।

स्त्री

जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी।
पिया, सोन मछरी, पिया, सोन मछरी।
जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी।

पिया डोंगी ले सिधारे,
मैं खड़ी रही किनारे,
पिया लौटे लेके बगल में सोने की परी।
पिया, सोने की परी, नहीं सोन मछरी।
पिया, सोन मछरी, नहीं सोने की परी।

पुरुष

मैंने बंसी जल में डाली,
देखी होती बात निराली,
छूकर सोन मछरी हुई सोने की परी।
रानी, सोने की परी, रानी, सोने की परी।
छूकर सोन मछरी हुई सोने की परी।

जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी।
पिया, सोन मछरी, पिया, सोन मछरी।
जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी।

स्त्रो

पिया परी अपनाए,
हुए अपने पराए,
हाय ! मछरी जो माँगी, कैसी बुरी थी घरी !
कैसी बुरी थी घरी ! कैसी बुरी थी घरी !
सोन मछरी जो माँगी, कैसी बुरी थी घरी ।

जो है कंचन का भरमाया,
उसने किसका प्यार निभाया,
मैंने अपना बदला पाया,
माँगी मोती की लरी, पाई आँसू की लरी ।
पिया, आँसू की लरी, पिया, आँसू की लरी ।
माँगी मोती की लरी, पाई आँसू की लरी ।

जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी ।
पिया, सोन मछरी, पिया, सोन मछरी ।
जाओ, लाओ, पिया, नदिया से सोन मछरी ।

धीमर की घरनी

(ढोलक पर सहगान के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

धीमर की,
धीमर की घरनी जाल बिने,
धीमर की।

अद्‌भुत पुतरी !
सतरँग सुतरी
दी इंद्रधनुष ने, रवि-शशि ने।
धीमर की,
धीमर की घरनी जाल बिने,
धीमर की।

नारी-नर को,
चेतन-जड़ को,
है मोह लिया उसकी छबि ने।
धीमर की,
धीमर की घरनी जाल बिने,
धीमर की।

मकरा-मकरी,
कछुआ-मछरी,
मेंढक-डेड़हा मेहमान बने ।
धीमर की,
धीमर की घरनी जाल बिने,
धीमर की ।

कोई तह में,
कोई दह में,
कोई रखते बाहर नथुने ।
धीमर की,
धीमर की घरनी जाल बिने,
धीमर की ।

यह फंद नहीं,
छरछंद नहीं,
उसको जो धीमर-मीत बने ।
धीमर की,
धीमर की घरनी जाल बिने,
धीमर की ।

लाठी और बाँसुरी

(पुरुष-स्त्री के बीच कथोपकथन की तरह गाने के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित, जिसे ढिढिया कहते हैं।)

पुरुष

लाडो, बाँस की बनाऊँ लठिया कि बँसिया ?
बँसिया कि लठिया ? लठिया कि बँसिया ?
लाडो, बाँस की बनाऊँ लठिया कि बँसिया ?

बंसी-धुन कानों में पड़ती,
गोरी के दिल को पकड़ती,
भोरी मछरी को जैसे मछुआ की कटिया ;
मछुआ की बँसिया, मछुआ की कटिया ;
लाडो, बाँस की बनाऊँ लठिया कि बँसिया ?

जग में दुश्मन भी बन जाते,
मौका पा नीचा दिखलाते,
लाठी रहती जिसके काँधे, उसकी ऊँची पगिया ;
उसकी ऊँची पगिया, ऊँची उसकी पगिया ;
लाडो, बाँस की बनाऊँ लठिया कि बँसिया ?

स्त्री

राजा, बाँस की बना ले बँसिया औ' लठिया ;
लठिया औ' बँसिया, बँसिया औ' लठिया ;
राजा, बाँस की बना ले बँसिया औ' लठिया ।

बंसी तेरी पीर बताए,
सुनकर मेरा मन अकुलाए,
सोने दे न जगने दे मेरी फुल-खटिया,
मेरी फुल-सेजिया, मेरी सूनी सेजिया ;
राजा, बाँस, की बना ले बँसिया औ' लठिया ।

प्रेमी के दुश्मन बहुतेरे,
ऐरे-गैरे-नत्थू-खैरे,
हारे, भागे न किसीसे मेरा रंग-रसिया ;
मेरा रंग-रसिया, मेरा रन-रसिया ;
राजा, बाँस की बना ले बँसिया औ' लठिया ।

माटी की महक

(ढोलक पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

जिसे माटी की,
जिसे माटी की महक न भाए,
उसे नहीं जीने का हक है ।

धूल धरा की नभ पर छाई,
नभ की साँस धरा पर आई ;
जिसे झंझा की,
जिसे झंझा की झनक न भाए,
उसे नहीं जीने का हक है ।
जिसे माटी की महक न भाए,
उसे नहीं जीने का हक है ।

कौन रहा है प्यासा हमेशा ?—
रस की रुत का आया सँदेसा ;
जिसे बिजली की,

जिसे बिजली की चमक न भाए,
उसे नहीं जीने का हक है।
जिसे माटी की महक न भाए,
उसे नहीं जीने का हक है।

किसने जाना सब दिन सावन ?—
डर घर बैठो मत, मन-भावन !
जो न बरखा में,
जो न बरखा में भीग नहाए,
उसे नहीं जीने का हक है।
जिसे माटी की महक न भाए,
उसे नहीं जीने का हक है।

रे कितना माँगा ! रे कितना पाया !
अच्छा हुआ जो मैं न अघाया।
जो न छाती में,
जो न छाती में कसक छिपाए,
उसे नहीं जीने का हक है !
जिसे माटी की महक न भाए
उसे नहीं जीने का हक है।

जीवन हँसी भी, जीवन रुदन भी,
जीवन खुशी भी, जीवन घुटन भी,
जो न जीवन की,

जो न जीवन की गत पर गाए
उसे नहीं जीने का हक है।
जिसे माटी की महक न भाए
उसे नहीं जीने का हक है।

आज दिवाली

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

गाँव बड़ा, पहले अँगना तो अपना बुहारूँ !
ऊँचा काटूँ
खाला पाटूँ
सारी जगह इकसारूँ !
गाँव बड़ा, पहले अँगना तो अपना बुहारूँ !

बीच में थाला
तुलसी वाला
कुस-काँटे निरुवारूँ !
गाँव बड़ा, पहले अँगना तो अपना बुहारूँ !

आरी आरी
लगी फुलवारी
क्यारी-क्यारी सुधारूँ !
गाँव बड़ा, पहले अँगना तो अपना बुहारूँ !

खोल किवाड़ा
करूँ उजियारा
बन्दनवार सँवारूँ !
गाँव बड़ा, पहले अँगना तो अपना बुहारूँ !

आज दिवाली
घर खुशियाली
चौमुख दिवला बारूँ !
गाँव बड़ा, पहले अँगना तो अपना बुहारूँ !

ढोलक - लय

(सहगान के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

ढोलक-लय,
ढोलक-लय से ही बँधा-सधा है गाँव, रे,
ढोलक-लय।

ढोलक की लय पर
चक्की की घुर-घुर,
चर्खे की चुर-मुर,
गागर उठाता है, पायल बजाता है पाँव, रे,
ढोलक-लय,
ढोलक-लय से ही बँधा-सधा है गाँव, रे,
ढोलक-लय।

ढोलक की लय पर
पनघट पर झलमल,
खेतों में हलचल,

नद्दी में चलती है, तट पर मचलती है नाव, रे,
ढोलक-लय,
ढोलक-लय से ही बँधा-सधा है गाँव, रे,
ढोलक-लय।

ढोलक की लय पर
पी की पगड़िया,
ती की चुनरिया,
अंबर में उड़ती है, धरती पर हिलती है छाँव, रे,
ढोलक-लय,
ढोलक-लय से ही बँधा-सधा है गाँव, रे,
ढोलक-लय।

ढोलक की लय पर
राहों में रह-भस,
आँगन में बतरस
किस्सा सुनाता, ठहाका लगाता अलाव, रे,
ढोलक-लय,
ढोलक-लय से ही बँधा-सधा है गाँव, रे,
ढोलक-लय।

ढोलक की लय में
गाँव बिसराए है,
सुख-दुख जो आए हैं,

संकट के, भय के, बीते समय के घाव, रे,
ढोलक-लय,
ढोलक-लय से ही बँधा-सधा है गाँव, रे,
ढोलक-लय ।

धारा में बहते फूल

(सहगान के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

धारा में बहते फूल
ससुर जी लाए,
जेठ जी लाए,
देवर जी लाए,
सजन ले आए ।

धारा में बहते फूल ससुर जी लाए ;
पूर्व दिशा में छिटकी लाली,
मंदिर बीच बजी घड़ियाली ;
मैंने ठाकुर-पूजा में पुष्प चढ़ाए ।
धारा में बहते फूल ससुर जी लाए ।

धारा में बहते फूल जेठ जी लाए ;
बैठे जिस ड्योढ़ी पर बाबा,
परबाबा के भी परबाबा,

मैंने उस ड्योढ़ी पर जा सुमन चढ़ाए।
धारा में बहते फूल जेठ जी लाए।

धारा में बहते फूल देवर जी लाए—
श्वेत वर्ण के आले-आले,
कुंतल मेरे काले-काले;
मैंने अपने जूड़े में कुसुम गुँथाए।
धारा में बहते फूल देवर जी लाए।

धारा में बहते फूल सजन ले आए।
पल-पल रात गई गहराती,
ठंडी छाती, ठंडी बाती,
मैंने साजन-शय्या पर फूल बिछाए।
धारा में बहते फूल सजन ले आए।

नोट : 'पूर्व', 'दिशा', 'पुष्प', 'श्वेत', 'वर्ण', 'शय्या' को क्रमशः गाते समय 'पुरुब', 'दिसा', 'पुहुप', 'सेत', 'बरन', 'सज्जा', उच्चारित किया जाय तो गीत में प्रवाह और माधुर्य बढ़ जायगा।

छतनार बिरवा

(सहगान के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित
जिसे ढिढिया कहते है)

मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा,
छतनार बिरवा, छतनार बिरवा ;
मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा ।

डालें हैं पातों में खोई,
पातों पर हरियाली सोई,
फूले फूलों से लदा है रँगदार बिरवा,
रँगदार बिरवा, रँगदार बिरवा ;
मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा ।

इसपर पंछी नीड़ बनाते,
भीगे, धूप-तपे जो आते,
उनपर छतरी लगाता छायादार बिरवा,
छायादार बिरवा, छायादार बिरवा ;
मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा ।

जब-जब फलने की रुत आती,
इसकी हर डाली झुक जाती,
सबकी झोली भरता है फलदार बिरवा,
फलदार बिरवा, फलदार बिरवा ;
मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा ।

आँधी आई, पानी आया,
धरती ने भी शीश हिलाया,
नहीं दर से डिगा है दमदार बिरवा,
दमदार बिरवा, दमदार बिरवा ;
मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा ।

सदियों का इतिहास बताता—
उनकी विजय-पराजय गाथा—
दुख, सुख, संशय, भय, जो होता मुखदार बिरवा ;
मुखदार बिरवा मुखदार बिरवा ;
मेरे आँगने खड़ा है छतनार बिरवा ।

कड़ी मिट्टी

(ढोलक पर सहगान के लिए:
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

जब माटी,
जब माटी नहीं है तैयार,
गगन को उलाहना क्या !

यह कँकरीली, यह पथरीली,
बड़ी गँठीली, कड़ी, हठीली ;
जब माटी,
जब माटी में नहीं है दरार,
गगन को उलाहना क्या !
जब माटी नहीं है तैयार,
गगन को उलाहना क्या !

नभ के पाहुन तब आते हैं,
जब वे द्वार खुला पाते हैं ;

जब माटी,
जब माटी ने जकड़े किवाड़,
गगन को उलाहना क्या !
जब माटी नहीं है तैयार,
गगन को उलाहना क्या !

सुर पर सुर बोला करता है,
मन को मन तोला करता है ;
जब माटी,
जब माटी में नहीं झन्कार,
गगन को उलाहना क्या !
जब माटी नहीं है तैयार,
गगन को उलाहना क्या !

मैं इस माटी को तोड़ूँगा,
ऐसे तो न इसे छोड़ूँगा ;
इसे दूँगा,
इसे दूँगा पसीने की धार,
गगन को उलाहना क्या !
जब माटी नहीं है तैयार,
गगन का उलाहना क्या !

भीगी सहेलियाँ

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

फुहियों में,
फुहियों में भीगी सहेलियाँ,
फुहियों में।

बादल की छाया,
भू तल जुड़ाया,
किसने इशारे से
इनको बुलाया ?—
खुलकर करें अठखेलियाँ
फुहियों में ;
फुहियों में भीगी सहेलियाँ,
फुहियों में।

गीली-सी चोली,
गीली-सी धोती,

गीले बदन पर ;
बालों में मोती ;
झुरमुट में झाड़ों में केलियाँ
फुहियों में ;
फुहियों में भीगी सहेलियाँ,
फुहियों में ।

पानी में क्या रस ?
माटी में क्या गुन ?
बजती हवाओं में
किसकी मधुर धुन ?—
रुकती न जो रँगरेलियाँ
फुहियों में ;
फुहियों में भीगी सहेलियाँ,
फुहियों में ।

तन-मन है भूखा,
जीवन है रूखा ;
कैसे लहर उठा
यह सोता सूखा ?—
बूझे न कोई पहेलियाँ
फुहियों में ;
फुहियों में भीगी सहेलियाँ
फुहियों में ।

किसानिन का गीत

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

खेत हरियाए तो मन हरियाए।

ओ, आँधी हर-हर,
ओ, बिजली चम-चम,
ओ, बदरा गड़-गड़,
ओ, बरखा झम-झम,
खेत पिए पानी तो जियरा जुड़ाए।
खेत हरियाए तो मन हरियाए।

लो, जेठऊ जोतें,
लो, देवरा जोतें,
लो, सैंयाँ बोएँ,
लो, भैया बोएँ,
खेत अँखुआए तो मन मुसकाए।
खेत हरियाए तो मन हरियाए।

रे, जेठऊ राखें,
रे, देवरा राखें,
रे, सैंयाँ ताकें,
रे, भैया ताकें,
खेत लहराए तो जिय लहराए।
खेत हरियाए तो मन हरियाए।

हे, जेठऊ काटें,
हे, देवरा काटें,
हे, सैंयाँ माड़ें,
हे, भैया माड़ें,
धान घर आए तो गान घर आए।
खेत हरियाए तो मन हरियाए।

पाहुन को जेवन,
कुनबे को भोजन,
साधू को भिच्छा,
कुत्ते को जूठन,
जिस घर में उसको महलिया सिहाए।
खेत हरियाए तो मन हरियाए।

चिड़ियों का भाग

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

चिड़ियों का भाग निकाल रे,
चिड़ियों का।

आई फ़सल घर,
जौ, गेहूँ, अरहर,
दाता हुआ है दयाल रे।
चिड़ियों का भाग निकाल रे,
चिड़ियों का।

मूठों से बोया,
गाँठों से ढोया,
करती है धरती कमाल रे।
चिड़ियों का भाग निकाल रे,
चिड़ियों का।

साईं की रहमत,
हाथों की मेहनत,
साथी रहा है सकाल रे।
चिड़ियों का भाग निकाल रे,
चिड़ियों का।

मौसम सुहाया,
चिड़ियों ने गाया,
खेती हुई है निहाल रे।
चिड़ियों का भाग निकाल रे,
चिड़ियों का।

चिड़ियाँ अघाएँ,
जो दें दुआएँ,
पड़ता नहीं है अकाल रे।
चिड़ियों का भाग निकाल रे,
चिड़ियों का।

खोई गुजरिया

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

मेले में खोई गुजरिया,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।

उसका मुखड़ा
चाँद का टुकड़ा,
कोई नज़र न लगाए,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।
मेले में खोई गुजरिया,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।

खोए-से नैना,
तोतरे बैना,
कोई न उसको चिढ़ाए।
जिसे मिले मुझसे मिलाए।

मेले में खोई गुजरिया,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।

मटमैली सारी,
बिना किनारी,
कोई न उसको लजाए,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।
मेले में खोई गुजरिया,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।

तन की गोली,
मन की भोली,
कोई न उसे बहकाए।
जिसे मिले मुझसे मिलाए।
मेले में खोई गुजरिया,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।

दूंगी चवन्नी
जो मेरी मुन्नी
को लाए कनिया उठाए।
जिसे मिले मुझसे मिलाए।
मेले में खोई गुजरिया,
जिसे मिले मुझसे मिलाए।

नील परी*

सीपी में नील-परी सागर तरें,
सीपी में ।

बंसी उस पार बजी,
नयनों की नाव सजी,

---

१. यह गीत निम्नलिखित व्याख्या के साथ अक्टूबर, १९६० में आकाशवाणी केन्द्र, लखनऊ, में फीतांकित किया गया था और वहीं से नवंबर में प्रसारित किया गया ।

" आज आपको अपना एक नये प्रकार का गीत सुना रहा हूं । विभिन्न छंदों को लेकर हिन्दी में बड़े अच्छे-अच्छे गीत लिखे जा चुके हैं । प्रस्तुत गीत लोकधुन पर आधारित है । प्रायः इस प्रकार के गीत सहगान के लिए हैं और ढोलक और मजीरे की ताल पर गाए जा सकते हैं ।

इस गीत में सीपी में मोती पड़ने की कहानी भी है । कहानी और कविता लोकगीतों में प्रायः एकसाथ चलती हैं ।

वैसे तो मुझे विश्वास है कि प्रतीक अपना अर्थ स्वयं बोलेंगे, परन्तु थोड़ा संकेत करना अनुचित न समझा जाएगा ।

नील परी उस अंधकार का प्रतीक है जो बंद सीपी में रहता है और लहरों का थपेड़ सहता है ।

फिर सहसा मोती का प्रादुर्भाव होता है । नील परी की वेदना में आँसू का गिरना ही जैसे मोती झरना है ।

उसीके पश्चात् अंतर्-प्रकाश होता है और सीपी का जीवन सफल हो जाता है । "

पलकों की पालें उसासें भरें,
सीपी में।
सीपी में नील-परी सागर तरें,
सीपी में।

अंधड़ आकाश चढ़ा,
झोंकों का ज़ोर बढ़ा,
शोर बढ़ा, बादल औ' बिजली लड़ें,
सीपी में।
सीपी में नील-परी सागर तरें,
सीपी में।

आर नहीं, पार नहीं,
तृन का आधार नहीं,
झेल रहीं लहरों का बार लहरें,
सीपी में।
सीपी में नील-परी सागर तरें,
सीपी में।

अब किसको याद करें,
किससे फ़रियाद करें
आह भरें, नयनों से मोती झरें,
सीपी में।
सीपी में नील-परी सागर तरें,
सीपी में।

सहसा उजियार हुआ,
बेड़ा भी पार हुआ,
पी का दीदार हुआ,
मोदभरी नील-परी पी को वरें,
सीपी में।
सीपी में नील-परी सागर तरें,
सीपी में।

मोती का मोल

(ढोलक पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

मोती का,
मोती का लगाए मोल, ऐसा कौन यहाँ ?

यह मोती अंबर से टपका,
यह फल है धरती के तप का,
एक पपीहे को तजकर के
जाने इसका मोल, ऐसा कौन यहाँ ?
मोती का,
मोती का लगाए मोल, ऐसा कौन यहाँ ?

यह मोती पंकज के दल पर,
दीपित झलमल, कंपित थरथर,
एक गुनी हंसा को तजकर
जाने इसका मोल, ऐसा कौन यहाँ ?

मोती का,
मोती का लगाए मोल, ऐसा कौन यहाँ ?

यह मोती सीपी में अटका,
लाना काम बड़े जीवट का,
एक महाराजा को तजकर
जाने इसका मोल, ऐसा कौन यहाँ ?
मोती का,
मोती का लगाए मोल, ऐसा कौन यहाँ ?

यह मोती अंचल पर टपका,
यह फल है बिरहिन के तप का,
एक दुखी प्रेमी को तजकर
जाने इसका मोल, ऐसा कौन यहाँ ?
मोती का,
मोती का लगाए मोल, ऐसा कौन यहाँ ?
मोती का चुकाए मोल, ऐसा कौन यहाँ ?

अनसँवरी

(उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

अंबर सँवरा,
अवनी सँवरी,
बोल सुहागिन,
तू ही क्यों अनसँवरी ?

ऊपर तारक-हीरक माला,
भू पर माटी का उजियाला,
जो है जिसके पास उसीसे उसने साजी देहरी ।
क्यों अनसँवरी,
बोल सुहागिन,
तू ही क्यों अनसँवरी ?

सबकी सुख की, दुख की घड़ियाँ,
फूलों की, मोती की लड़ियाँ,
जीवन में सबने जानी है काली रात, दुपहरी ।
क्यों अनसँवरी,

बोल सुहागिन,
तू ही क्यों अनसँवरी ?

हर्षित खोल सुहाग-पिटारी,
हल्का कर अपना मन भारी,
पी की दी सब कुछ सुंदर है—चूनर, चादर, कथरी।
क्यों अनसँवरी,
बोल सुहागिन,
तू ही क्यों अनसँवरी ?

जो कुछ तेरे तन पर, मन में,
घुल जाएगा आलिंगन में,
पिछले पहर पिया आएंगे, लाया हूँ खुशखबरी।
क्यों अनसँवरी,
बोल सुहागिन,
तू ही क्यों अनसँवरी ?

महुआ के नीचे

(ढोलक पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे,
महुआ के ।

यह खेल-हँसी,
यह फाँस फँसी,
यह पीर किसीसे मत कह रे ।
महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे,
महुआ के ।

अब मन परबस,
अब सपन परस,
अब दूर दरस, अब नयन भरे ।

महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे,
महुआ के।

अब दिन बहुरे,
जी की कह रे,
मनबासी पी के मन बस रे
महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे,
महुआ के।

घड़ियाँ सुबरन,
दुनिया मधुबन,
उसको जिसको न पिया बिसरे।
महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे,
महुआ के।

सब सुख पाएँ,
सुख सरसाएँ
कोई न कभी मिलकर बिछुड़े।
महुआ के,
महुआ के नीचे मोती झरे,
महुआ के।

छोटी हुई दुनिया

(ढोलक-मजीरे पर सहगान के लिए :
उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

कहते हैं,
कहते हैं दुनिया छोटी हुई,
पिया नेड़े रहें तो मैं मानूँ !

जितनी दूर पिया की नगरी
पहले थी, अब भी है, पगली,
कहते हैं,
कहते हैं दुनिया छोटी हुई,
पिया नेड़े रहें तो मैं मानूँ !

क्या सूरज, क्या चाँद-सितारे,
क्या बादल, बिजली, अंगारे,···
कहते हैं,
कहते हैं सब का भेद खुला,
पिया मेरे खुलें तो मैं जानूँ !

कहते हैं दुनिया छोटी हुई,
पिया नेड़े रहें तो मैं मानूँ ।

काशी से आकर कमंडलधारी,
वृंदावन से आकर पुजारी,
कहते हैं,
कहते हैं मुरारी कहाँ नहीं,
मुझे घेरे रहें तो मैं जानूँ !
कहते हैं दुनिया छोटी हुई,
पिया नेड़े रहें तो मैं मानूँ ।

साईं भी आकर, गोसाईं भी आकर,
धूनी रमाकर, पोथी सुनाकर,
कहते हैं,
कहते है तुझमें तेरा पिया,
पिया मेरे कहें तो मैं मानूँ ।
कहते हैं तू रह पी की बनी,
पिया मेरे रहें तो मैं जानूँ ।
कहते हैं दुनिया छोटी हुई,
पिया नेड़े रहें तो मैं मानूँ ।

गोरी नागिन

(सहगान के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर
आधारित, जिसे ढिढिया कहते हैं)

ओ री भोरी, तेरा होरी गोरी नागिन का डँसा,
गोरी नागिन का डँसा, होरी नागिन का डँसा ;
ओ री भोरी, तेरा होरी गोरी नागिन का डँसा ।

उसकी काया है लचकीली,
आँखें हैं नीली-ज़हरीली,
उसने हँसकर के, बस करके कुंडल में कसा ;
होरी कुंडल में कसा, गोरी-कुंडल में कसा ;
ओ री भोरी, तेरा होरी गोरी नागिन का डँसा ।

उसका रंग बदलता जाता,
उसके संग-संग लहराता,
उसकी बातों को दुहराता, उसकी बातों में फँसा ;
मीठी बातों में फँसा, सीठी बातों में फँसा ;
ओ री भोरी, तेरा होरी गोरी नागिन का डँसा ।

उसके अंग-अंग में जादू,
पर मैं टोना एक बता दूँ,
जिससे होरी जाए पूरब, गोरी पच्छिम की दिशा ;
होरी पूरब की दिशा, गोरी पच्छिम की दिशा ;
ओ री भोरी, तेरा होरी गोरी नागिन का डँसा ।

खेतों की माटी, गंगाजल,
अपने अंगों के ऊपर मल,
उसके आगे जा कह 'ज न ग न'
तुझको देखे उतरेगा नंगी नागिन का नशा ;
नंगी नागिन का नशा, नंगी नागिन का नशा ;
ओ री भोरी, तेरा होरी गोरी नागिन का डँसा ।

मैना दूत

(अकेले गाने के लिए : उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर
आधारित, जिसे ढिढिया कहते हैं)

जा रे, प्यारे मैना, डैना फैला पी की नगरी ;
जा रे, पी की नगरी, प्यारे पी की नगरी ;
जा रे, प्यारे मैना, डैना फैला पी की नगरी ।

ऊँचे - ऊँची महल - अटारी ;
झंडा उड़ता है सरकारी,
अंबर पीती उड़ती है वहाँ लोहे की परी ;
मैना, लोहे की परी, मैना, लोहे की परी ;
जा रे, प्यारे मैना, डैना फैला पी की नगरी ।

कहना, सोन बरन की नारी,
होती जाती दिन-दिन कारी,
तुमने ऐसी याद बिसारी, वह है जीती कि मरी ;
मैना, जीती कि मरी, मैना, जीती कि मरी ;
जा रे, प्यारे मैना, डैना फैला पी की नगरी ।

कहना, गिरती हैं दीवारें ;
छानी से पानी की धारें
होड़ करती हैं लड़ियों से नयनों से झड़ी ;
मैना, नयनों से गिरी, मैना, नयनों से झरी ;
जा रे, प्यारे मैना, डैना फैला पी की नगरी ।

इतने से न पिया मनुहाएँ,
उनको याद न मेरी आए,
उनके कानों में दुहराना, ऐसे गानों की कड़ी ;
ऐसे गानों की कड़ी, ऐसे गानों की कड़ी ;
जा रे, प्यारे मैना, डैना फैला पी की नगरी ।

कैसे गीतों की कड़ी ?—
जिनको जब नभ था बदराया,
जिनको जब अम्बा बौराया,
जिनको जब महुआ चुचुआया,
हमने गाया था ; गुँजाई थी जवानी की घड़ी ।
क्या रवानी की घड़ी ! क्या शैतानी की घड़ी !
क्या सुल्तानी की घड़ी !
जा रे, प्यारे मैना, डैना फैला पी की नगरी !

आँगन का बिरवा

(अकेले गाने के लिए : लोकधुन पर आधारित)

आँगन के,
आँगन के बिरवा मीत रे,
आँगन के ।

रोप गए साजन,
सजीव हुआ आँगन ;
जीवन के बिरवा मीत रे ।
आँगन के,
आँगन के बिरवा मीत रे,
आँगन के !

पी की निशानी
को देते पानी
नयनों के घट गए रीत रे ।
आँगन के
आँगन के बिरवा मीत रे,
आँगन के !

फिर-फिर सावन
बिन मनभावन ;
सारी उमर गई बीत रे।
आँगन के
आँगन के बिरवा मीत रे,
आँगन के !

तू अब सूखा,
सब दिन रूखा,
दूखा गले का गीत रे।
आँगन के
आँगन के बिरवा मीत रे,
आँगन के !

अंतिम शैया
हो तेरी छैंयाँ,
दैया निभा दे प्रीत रे !
आँगन के
आँगन के बिरवा मीत रे,
आँगन के।

आ गया घाट

(उत्तरप्रदेश की एक लोकधुन पर आधारित)

आ गया घाट,
आ गया घाट, उतर अलबेली,
उतर अलबेली ।

चमक रहा है कनक-कँगूरा,
सुन, बजता है बुर्ज-धतूरा,
शुक्र, सफ़र अब तेरा पूरा,
दूर नहीं पी-घर, अलबेली ।
आ गया घाट, उतर अलबेली,
उतर अलबेली ।

नाव चली थी साज-सजीली,
चूल-कसी, चिकनी, छवि-छीली,
पर अब कीली-कीली ढीली,
सोच न इस पर कर, अलबेली ।
आ गया घाट, उतर अलबेली,
उतर अलबेली ।

बिजली चमकी, आँधी आई,
धूल चढ़ी, अँधियाली छाई,
लहरों ने की हहर लड़ाई,
जल-थल-नभ ने की रँगरेली ।
आ गया घाट, उतर अलबेली,
उतर अलबेली ।

और मिला था स्वच्छ गगन भी,
छहरी थी स्वच्छंद किरन भी,
गीत उठा था मुक्त-मगन भी,
याद न कर मन भोगी, भेली ।
आ गया घाट, उतर अलबेली,
उतर अलबेली ।

माना देस-नगर अनजाना,
पर सबका यह एक ठिकाना,
नित्य लगा है आना-जाना ;
साथ रहेगी एक सहेली ।
आ गया घाट, उतर अलबेली,
उतर अलबेली ।

फिर चुनौती

अंतर से या कि दिगंतर से आई पुकार—
मैंने अपने पाँवों से पर्वत कुचल दिए,
क़दमों से रौंदे कुश-काँटों के बन बीहड़,
दी तोड़ डगों से रेगिस्तानों की पसली,
दी छोड़ पगों की छाप धरा की छाती पर ;
सुस्ताता हूँ ;
तन पर फूटी श्रम-धारा का
सुख पाता हूँ ।

अंतर से या कि दिगंतर से आई पुकार—
मैंने सूरज की आँखों में आँखें डालीं,
मैंने शशि को मानस के अन्दर लहराया,
मैंने नयनों से नाप निशाओं का अंबर
उडगण-उडगण को अश्रुकणों से नहलाया ;
अलसाया हूँ ;
पलकों में कुछ अद्भुत सपने
भर लाया हूँ ।

अंतर से या कि दिगंतर से आई पुकार—
रस-रूप जिधर से भी मैंने आते देखा
चुपचाप बिछाया अपनी बेबस चाहों को ;
वामन के भी अरमान असीमित होते हैं,
रंभा की ओर बढ़ाया अपनी बाँहों को ;
बतलाता हूँ
यौवन की रंग-उमंगों को।
शरमाता हूँ।

अंतर से या कि दिगंतर से आई पुकार—
तम आसमान पर हावी होता जाता था,
मैंने उसको ऊषा-किरणों से ललकारा ;
इसको तो खुद दिन का इतिहास बताएगा,
थी जीत हुई किसकी औ' कौन हटा-हारा ;
मैं लाया हूँ
संघर्ष-प्रणय के गीतों को ;
मनभाया हूँ।

अंतर से या कि दिगंतर से आई पुकार—
हर जीत, जगत की रीति, चमक खो देती है,
हर गीत गूँजकर कानों में धीमा पड़ता,
हर आकर्षण घट जाता है, मिट जाता है,
हर प्रीति निकलती जीवन की साधारणता ;

अकुलाता हूँ;
संसृति के क्रम को उलट कहाँ
मैं पाता हूँ।

अंतर से या कि दिगंतर से आई पुकार—
पर्वत ने फिर से अपना शीश उठाया है,
सूरज ने फिर से वसुंधरा को घूरा है,
रंभा ने की ताका-झाँकी फिर नंदन से,
उजियाले का तम पर अधिकार अधूरा है;
पछताता हूँ;
अब नहीं भुजाओं में पहला
बल पाता हूँ।

अंतर से या कि दिगंतर से आई पुकार—
कब सिंह समय की खाट बिछाकर सोता है,
कब गरुड़ बिताता है अपने दिन कंदर में,
जड़ खंडहर भी आवाज़ जवाबी देता है,
बड़वाग्नि जगा करती है बीच समुंदर में;
मुसकाता हूँ;
मैं अपनी सीमा, सबकी सीमा से परिचित,
पर मुझे चुनौती देते हो
तो आता हूँ।

यात्री से

यह समय का भार फेंक उतार, फिर से फूल चुन !
नापता सदियाँ डगों से
तू सफ़र करता रहा है,
और हर दिन बोझ तेरे
शीश पर बढ़ता रहा है,
पंथ से तूने ज़रूरी—
बे-ज़रूरी सब उठाया ;
यदि न गिरकर बैठ जाना है अक़ल की बात सुन !
यह समय का भार फेंक उतार, फिर से फूल चुन !

बोझ अच्छा है, मुसाफ़िर
की अगर वह चाल साधे,
पर बुरा है.जो दबाकर
पाँव बाँधे, चाल बाँधे,
गर्व क्या प्राचीन का है ?
मोह क्या है रूढ़ियों का ?—

खोलकर गट्ठर कहीं पर एक क्षण को देख-गुन ।
यह समय का भार फेंक उतार, फिर से फूल चुन ।

शक्ति क्या सबसे बड़ी
प्राचीन की, पहचानता है ?
वह नये, ताज़े, हरे को
अंक भरना जानता है,
जानता है झाड़ देना
वह पुरातन स्वप्न धुँधले,
आँजना संध्या-दृगों में प्रात की किरणें अरुण ।
यह समय का भार फेंक उतार, फिर से फूल चुन ।

एक युग की शाम जाती
एक युग का प्रात आता,
भू बदलती, नभ बदलता,
और उनके बीच नाता;
शक्ति की तेरी परीक्षा
सृष्टि लेना चाहती है,
नव पवन के नव विहंगों से नई तू सीख धुन ।
यह समय का भार फेंक उतार, फिर से फूल चुन ।

कवि और वैज्ञानिक

वे गगन को अग्नि-शर से बेधते हैं
और तुम उलझे हुए अलकावली में।

मानता हूँ कल्पना के पर लगाकर
नील सीमाहीन की ऊँचाइयों से
खेल तुमने ही किया पहले, गुँजाई
भी दिशाएँ गीत की शहनाइयों से ;
औ' गरुड़ के पंख बाँधे बाज़ुओं से
सूर्य की भी ओर पहले तुम बढ़े थे ;
पर तुम्हारे स्वप्न छितराए क्षितिज पर
क्षार होकर ताप की सच्चाइयों से।
किन्तु वे सच्चाइयों के ताप को बल
मैं बदलकर देश जीते, काल जीते ;
वें गगन को अग्नि-शर से बेधते हैं
और तुम उलझे हुए अलकावली में।

कुछ हृदय में था कि सब का सब निछावर

जो धरा के अंचलों पर हो न पाया,
कुछ नयन में था कि जो तृण, फूल, फल, दल,
मंजरी, मकरंद में ही खो न पाया,
गोद में थी भूमि सारी किंतु खाली-
सा कहीं भुजपाश अनुभव कर रहा था,
कुछ अधर में था कि वसुधा की सुरा में
डूबकर भी चैन से मैं सो न पाया;
मैं खगों में, मेघ में, नखतावली में
कुछ उसीको ढूंढता फिरता कभी था,
स्वर्ग का भी द्वार खटकाने गया था
मैं उसी अंतःकरण की बेकली में।
वे गगन को अग्नि-शर से बेधते हैं
और तुम उलझे हुए अलकावली में।

अवनि से अंबर तलक जो प्रेरणा का
स्वप्न संभव सेतु मैंने था बनाया,
आज उसपर सत्य चढ़कर जा रहा है,
लो, दुआ का हाथ मैंने भी उठाया।
किंतु मेरे रास्ते अब दूसरे हैं,
किंतु मेरी मंज़िलें अब दूसरी हैं,
छानकर आकाश का हरएक कोना
स्वर्ग का सच्चा पता मैंने लगाया।
स्वर्ग साहस, दंभ, ताकत के प्रदर्शन
में नहीं है—चाँद, सूरज, तारकों में,

स्वर्ग है विश्वास कर कवि-घोषणा का—
जो भ्रमर को बांध लेता है कली में।
वे गगन को अग्नि-शर से बेधते हैं
और तुम उलझे हुए अलकावली में।

गोल मुड़कर फिर मिली अलकावली ने
जो दिया संदेश तू समझा नहीं है,
घूम-फिरकर व्योम, जल, थल की परिधि में
ओ विकल मन, अंत में आना यहीं है,
मैं बहुत भटका, भटकना है उन्हें भी,
देह, प्राणों की, हृदय की, बुद्धि की सब
हलचलों में प्यार की ही खोज होती।
प्यार से आगे नहीं कुछ भी कहीं है।
दो समा सकते नहीं हैं जिस जगह पर
एक हो संसार सारा मिल सकेगा,
आज नभ को नापते विज्ञान को
मेरे निमंत्रण प्रेम की सँकरी गली में।
वे गगन को अग्नि-शर से बेधते हैं
और तुम उलझे हुए अलकावली में।

ढाई अक्षर

क्या सब कुछ पोथी से ही सीखा जाएगा, ओ मतवाले ?

माना ज्ञान रतन है जिसको
रत्नाकर का अंतर मथकर,
बड़ी लगन से, बड़े जतन से,
लाए बाहर धीर-धुरंधर ;
और उसे रख दिया उन्होंने
वर्ण-छंद में, अर्थ-संघ में ;
और कहा, जो चाहे श्रम से, साधन से यह निधि अपना ले ।
क्या सब कुछ पोथी से ही सीखा जाएगा, ओ मतवाले ?

माना ज्ञान किरण है जिसको
अंधकार का वक्ष चीरकर,
घोर तपस्या, व्रत, संयम से,
लाए बाहर पीर - पयंबर ;
और उसे रख दिया उन्होंने
शब्द, ऋचाओं में, मंत्रों में ;
और कहा, जो उन्हें जगा ले, पंथ चले उनके उजियाले ।
क्या सब कुछ पोथी से ही सीखा जाएगा, ओ मतवाले ?

क्या ऊषा की प्रथम किरण में,
क्या चिड़ियों की प्रथम चहक में,
क्या दिन का पर्दा उठते ही
निखिल प्रकृति की प्रथम लहक में,
धूप-छाँह को आँखमिचौनी
में, रजनी के अलस नयन में,
क्या न वर्ण हैं, क्या न छंद हैं, क्या जीवन के अर्थ निराले ?
क्या सब कुछ पोथी से ही सीखा जाएगा, ओ मतवाले ?

क्या मुसकानों के बचपन में,
क्या अल्हड़पन के यौवन में,
उदासीनता के, मरघट की
और खिसकते, चरण-चरण में,
श्रमसीकर के संघर्षण में
और थकन की मौन शरण में,
क्या न ऋचाएँ, क्या न मंत्र हैं, ढाई-ढाई अक्षर वाले ?
क्या सब कुछ पोथी से ही सीखा जाएगा, ओ मतवाले ?

मिट्टी से हाथ लगाए रह !

ये नियति-प्रकृति मुझको भरमाती जाएँगी,
तू बस मेरी मिट्टी से हाथ लगाए रह !

मैंने अक्सर यह सोचा है,
यह चाक बनाई किसकी है ?
मैंने अक्सर यह पूछा है,
यह मिट्टी लाई किसकी है ?
पर सूरज, चाँद, सितारों ने
मुझको अक्सर आगाह किया,
इन प्रश्नों का उत्तर न तुझे मिल पाएगा,
तू कितना ही अपने मन को उलझाए रह ।
ये नियति-प्रकृति मुझको भरमाती जाएँगी,
तू बस मेरी मिट्टी से हाथ लगाए रह !

मधु - अश्रु - स्वेद - रस - रक्त
हलाहल से इसको नम करने में,

क्या लक्ष्य किसीने रक्खा है,
इस भाँति मुलायम करने में ?
उल्का, विद्युत, नीहारों ने
पर मेरे ऊपर व्यंग किया,
बहुतेरे उद्भट इन प्रश्नों में भटक चुके,
तू भी चाहे तो अपने को भटकाए रह ।
ये नियति-प्रकृति मुझको भरमाती जाएँगी,
तू बस मेरी मिट्टी से हाथ लगाए रह !

प्रातः, दिन, संध्या, रात, सुबह
चक्कर पर चक्कर खा-खाकर,
अस्थिर-तन-मन, जर्जर-जीवन,
मैं बोल उठा था घबराकर,
जब इतने श्रम-संघर्षण से
मैं कुछ न बना, मैं कुछ न हुआ,
तो मेरी क्या, तेरी भी इज़्ज़त इसमें है,
मुझ मिट्टी से तू अपना हाथ हटाए रह ।
ये नियति-प्रकृति मुझको भरमाती जाएँगी,
तू बस मेरी मिट्टी से हाथ लगाए रह !

.

अपनी पिछली नासमझी का
अब हर दिन होता बोध मुझे,
मेरे बनने के क्रम में था
घबराना, आना क्रोध मुझे,

मेरा यह गीत सुनाना भी ;
होगा, मेरा चुप होना भी ;
जब तक मेरी चेतनता होती सुप्त नहीं
तू अपने में मेरा विश्वास जगाए रह।
ये नियति-प्रकृति मुझको भरमाती जाएँगी,
तू बस मेरी मिट्टी से हाथ लगाए रह !

मैंने ही न देखा

तुम प्रतीक्षा में हमेशा से खड़े थे,
और मैंने ही न देखा ।

एक सुरभित साँस आती थी कहीं से ;
धूल से, वन-फूल से, नभ-तारकों से,
चाँद-सूरज से, गगन-अंतःकरण से,
या कि मेरी ही शिराओं से, रगों से ?
इत्र की कुछ शीशियों को खोलते ही,
मूँदते ही उम्र मेरी कट गई है ।
तुम प्रतीक्षा में हमेशा से खड़े थे,
और मैंने ही न देखा ।

एक झिलमिल जोत आती थी कहीं से ;
सरवरों, नद-निर्झरों से, सागरों से,
बादलों से, बिजलियों की पायलों से,
या कि मेरे ही दृगों के दायरों से ?
मृत्तिका के कुछ दियों को ही जलाते
औ' बुझाते उम्र मेरी कट गई है ।

एक हीरक से हृदय में तुम जड़े थे,
और मैंने ही न देखा।
तुम प्रतीक्षा में हमेशा से खड़े थे,
और मैंने ही न देखा।

एक अस्फुट गूँज आती थी कहीं से ;
मधुकरों से, वन-विहंगों के परों से,
घन-पवन से, पावसी रिमझिम झरन से,
या कि मेरे आँसुओं के सीकरों से ?
छंद की बहु शृंखलाएँ जोड़ते ही,
तोड़ते ही उम्र मेरी कट गई है।
किंतु ढाई अक्षरों में मुक्ति का गुरु
मंत्र अभिमत गुनगुनाते तुम पड़े थे,
और मैंने ही न देखा।
तुम प्रतीक्षा में हमेशा से खड़े थे,
और मैंने ही न देखा।

मौन यात्री

इस तुम्हारी मौन यात्रा में मुखर मैं भी तुम्हारे साथ ।

लक्ष्य तुम किसको बनाकर चल पड़े हो
जानता है कौन ?
और पूछे भी न कोई, क्या इसीसे
हो गए हो मौन ?
कब किसे तुमने बुलाया ? बैठ जोही
कब किसीकी बाट ?
किंतु पीछे आ रहे हैं कौन क्या तुमको नहीं है ज्ञात ?
इस तुम्हारी मौन यात्रा में मुखर मैं भी तुम्हारे साथ ।

और सोच-विचार निर्णय कब किया
मैंने करूँ प्रस्थान ?
और मेरे वास्ते किसको पड़ी थी
जो करे आह्वान ?
एक मेला जा रहा है, मैं अकेला
ही न जाऊँ छूट,

बस यही कुछ सोच सबके साथ मैं भी हो लिया अज्ञात।
इस तुम्हारी मौन यात्रा में मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

रास्ते में कौन कंकड़, कौन पत्थर,
कौन कंटक-जाल,
कौन संकट, कौन बंधन तोड़ती
जारी तुम्हारी चाल—
यह तुम्हारे पाँव जानें, या कि जानें
जो तुम्हारे पास
अग्रजों के पद-विनिर्मित पंथ पर मैं चल रहा नतमाथ।
इस तुम्हारी मौन यात्रा में मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

किस जगह मंज़िल मिलेगी, या मिलेगा
किस जगह विश्राम ?
यह तुम्हारा और अगले साथियों का
प्रश्न ; मुझसे काम ?
प्रार्थना मेरी यही कोई न छूटे,
गिरे, पिछड़े, राम !
मैं तुम्हारा हाथ हाथों-हाथ पकड़े हाथ में रक्खे हुए हूँ हाथ।
इस तुम्हारी मौन यात्रा में मुखर मैं भी तुम्हारे साथ।

जादूगर का जादू

तेरी दुनिया को प्यार किया है मैंने ।

ज्ञानी ने मुझसे कहा कि सब माया है,
तूने नासमझी से धोखा खाया है,
रस्सी का टुकड़ा है, गजरा लगता है,
यह सत्य नहीं है, सपने की छाया है ।
जादूगर, यह अपराध न कहलाएगा,
तेरा जादू स्वीकार किया है मैंने ।
तेरी दुनिया को प्यार किया है मैंने ।

यह सपना हो तो क्या हर जगह सलोना,
माना कि इधर सुरभित फूलों का दोना,
पर उधर कठिन शूलों का जाल बिछा है,
यदि यह सुखमय तो दुखमय है वह कोना,
क्या मृदुल कुसुम, क्या चुभनेवाला काँटा,
सबसे अपना शृंगार किया है मैंने ।
तेरी दुनिया को प्यार किया है मैंने ।

यह भी माना यह सब आँखों का भ्रम था,
पाँवों के नीचे शून्य कठोर-नरम था,
था शब्द बना सूनेपन की प्रतिध्वनि से,
नीरवता का नर्तन था जो सरगम था,
हिम कहकर संभव नहीं जिसे झुठलाना,
ऐसा उर में अंगार लिया है मैंने।
तेरी दुनिया को प्यार किया है मैंने।

उन्माद मिलन का झूठ नहीं हो सकता,
अवसाद विरह का झूठ नहीं हो सकता,
मंज़िल जब तक उम्मीद न देती जाए,
कोई जीवन का भार नहीं ढो सकता।
इस दर्द, खुशी, आशा की सच्चाई को,
इन द्वंदों में जीने की कठिनाई को,
छंदों में कुछ साकार किया है मैंने।
तेरी दुनिया को प्यार किया है मैंने।

तुम्हारी नाट्यशाला

काम जो तुमने कराया, कर गया ;
जो कुछ कहाया, कह गया ।

यह कथानक था तुम्हारा
और तुमने पात्र भी सब चुन लिए थे,
किंतु उनमें थे बहुत-से
जो अलग ही टेक अपनी धुन लिए थे,
और अपने आप को अर्पण
किया मैंने कि जो चाहो बना दो ;
काम जो तुमने कराया, कर गया ;
जो कुछ कहाया, कह गया ।

मैं कहूँ कैसे कि जिसके
वास्ते जो भूमिका तुमने बनाई,
वह ग़लत थी ; कब किसीकी
छिप सकी कुछ भी, कहीं, तुमसे छिपाई ;

जब कहा तुमने कि अभिनय में
बड़ा वह जो कि अपनी भूमिका से
स्वर्ग छू ले, बँध गई आशा सभी की,
दंभ सबका बह गया।
काम जो तुमने कराया, कर गया ;
जो कुछ कहाया, कह गया।

आज श्रम के स्वेद में डूबा
हुआ हूँ, साधना में लीन हूँ मैं,
आज मैं अभ्यास में ऐसा
जुटा हूँ, एक क्या, दो-तीन हूँ मैं,
किंतु जब पर्दा गिरेगा
मुख्य नायक-सा उभरता मैं दिखूँगा ;
ले यही आशा, नियंत्रण
और अनुशासन तुम्हारा सह गया।
काम जो तुमने कराया, कर गया ;
जो कुछ कहाया, कह गया।

मंच पर पहली दफ़ा मुँह
खोलते ही हँस पड़े सब लोग मुझपर,
क्या इसीके वास्ते तैयार
तुमने था किया मुझको, गुणागर ?
आखिरी यह दृश्य है जिसमें
मुझे कुछ बोलना है, डोलना है,

और दर्शक हँस रहे हैं,
अब कहूँगा, थी मुझीमें कुछ कमी जो
मैं तुम्हारी नाट्यशाला में
विदूषक मात्र बनकर रह गया।
काम जो तुमने कराया, कर गया ;
जो कुछ कहाया, कह गया।

गीतशेष

अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है !

क्षीर कहाँ मेरे बचपन का
और कहाँ जग के परनाले,
इनसे मिलकर दूषित होने
से ऐसा था कौन बचा ले ;
यह था जिससे चरण तुम्हारा
धो सकता तो मैं न लजाता,
अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है !

यौवन का वह सावन जिसमें
जो चाहे जब रस बरसा ले,
पर मेरी स्वर्गिक मदिरा को
सोख गए माटी के प्याले,
अगर कहीं तुम तब आ जाते
जी भर पीते, भीग - नहाते,

रस से पावन, हे मनभावन, विधना ने विरचा ही क्या है !
अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है !

अब तो जीवन की संध्या में
है मेरी आँखों में पानी,
झलक रही है जिसमें निशि की
शंका, दिन की विषम कहानी—
कर्दम पर पंकज की कलिका,
मरुथल पर मानस जल-कलकल
लौट नहीं जो आ सकता है अब उसकी चर्चा ही क्या है !
अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है !

मरुथल, कर्दम निकट तुम्हारे
जाते, ज़ाहिर है, शरमाए,
लेकिन मानस-पंकज भी तो
सम्मुख हो सूखे, कुम्हलाए ;
नीरस-सरस, अपावन-पावन
छू न तुम्हें कुछ भी पाता है
इतना ही संतोष कि मेरा
स्वर कुछ साथ दिए जाता है,
गीत छोड़कर पास तुम्हारे मानव का पहुँचा ही क्या है !
अब तुमको अर्पित करने को मेरे पास बचा ही क्या है !

चिड़िया और चुरुंगुन

छोड़ घोंसला बाहर आया,
देखीं डालें, देखे पात,
और सुनी जो पत्ते हिलमिल
करते हैं आपस में बात ;—
माँ, क्या मुझको उड़ना आया ?
'नहीं, चुरुंगुन, तू भरमाया ।'

डाली से डाली पर पहुँचा,
देखीं कलियाँ, देखे फूल,
ऊपर उठकर फुनगी जानी,
नीचे झुककर जाना भूल ;—
माँ, क्या मुझको उड़ना आया ?
'नहीं, चुरुंगुन, तू भरमाया ।'

कच्चे - पक्के फल पहचाने,
खाए और गिराए काट,

खाने - गाने के सब साथी
देख रहे हैं मेरी बाट ;—
माँ, क्या मुझको उड़ना आया ?
'नहीं, चुरुंगन, तू भरमाया ।'

उस तरु से इस तरु पर आता,
जाता हूँ धरती की ओर,
दाना कोई कहीं पड़ा तो
चुन लाता हूँ ठोक-ठठोर ;—
माँ, क्या मुझको उड़ना आया ?
'नहीं, चुरुंगुन तू, भरमाया ।'

मैं नीले अज्ञात गगन की
सुनता हूँ अनिवार पुकार,
कोई अंदर से कहता है
उड़ जा, उड़ता जा पर मार ;—
माँ, क्या मुझको उड़ना आया ?
'आज सुफल हैं तेरे डैने,
आज सुफल है तेरी काया ।'

गत और अनागत

कूकी थी कोयल कौतुकमय
जो बचपन की अमराई में,
कूकी थी कोयल मदमाती
जो यौवन की गदराई में,

कूकी थी कोयल अलसाई
जो संध्या की परछाईं में,
वह रहस-भरी फिर बोल उठी
मेरी सित केश बुढ़ाई में।

मैंने उस कोयल से पूछा,
'क्या आगम की पहचान तुझे ?
कितने शिशिरातप बाकी हैं
मेरे ? क्या इसका ज्ञान तुझे ?'

वह बोली पर अचरज में भर
'मैं भोली क्या बतलाऊँगी !

मुझको खुद यह मालूम नहीं
फिर आऊँगी या गाऊँगी।

मुझको यह भी मालूम नहीं
क्या बीत गया, क्या आएगा,
हूँ धन्य कि मुझको काल नहीं
इन प्रश्नों में उलझाएगा।'

यह भेद खुला मुझपर, जब तक
गत को मैं भूल न जाऊँगा,
तब तक आगम की चिंता से
मैं मुक्त नहीं हो पाऊँगा।

रात-राह-प्रीति-पीर

साँझ खिले,
प्रात झड़े,
फूल हरसिंगार के ;
रात महकती रही ।
शाम जले,
भोर बुझे,
दीप द्वार-द्वार के ;
राह चमकती रही ।
गीत रचे,
गीत मिटे,
जीत और हार के ;
प्रीति दहकती रही ।
यार विदा,
प्यार विदा,
दिन विदा बहार के ;
पीर कसकती रही ।

शब्द-मानव-काल

संगिनी, सूरज कहाँ ढला ?

हर संध्या को हमने देखा,
शेष रही उसकी बस रेखा,
उसी तेज से, उसी ओज से फिर प्रातः निकला।
संगिनी, सूरज कहाँ ढला ?

और चाँद भी कहाँ ढला है ?
बढ़-घट कर भी पूर्णकला है,
तारों का आनन भी तो है पहले-सा उजला ?
संगिनी, सूरज कहाँ ढला ?

हरी धरा है, नील गगन है,
सागर का निर्मल दर्पण है,
पहले ही सा ; नहीं पवन पर कोई नियम चला।
संगिनी, सूरज कहाँ ढला ?

हमीं गले हैं, हमीं ढले हैं,
हमीं सब तरह से बदले हैं ;
नहीं शब्द-छंदों से जाता निरवधि काल छला ।
संगिनी, सूरज कहाँ ढला ?

जीवन भुक्त

बाबा, अब तो मेरी बीती ।

बहुत एक दिन था अनजाना,
अब तो सब इतिहास पुराना,
बहुत हुई मेरी मनचीती, बहुत हुई अनचीती ।
बाबा, अब तो मेरी बीती ।

जिसपर था आह्लाद किसी दिन,
जिसपर था अवसाद किसी दिन,
एक हुई जाती है मेरी बाज़ी हारी-जीती ।
बाबा, अब तो मेरी बीती ।

इस क्रम से किसने क्या पाया,
किसने इसका भेद बताया ?—
बूंद-बूंद से भरी गगरिया, बूंद-बूंद से रीती ।
बाबा, अब तो मेरी बीती !

जाल-समेटा

जाल-समेटा करने में भी
समय लगा करता है, माँझी,
मोह मछलियों का अब छोड़।

सिमट गईं किरणें सूरज की,
सिमटीं पंखुरियाँ पंकज की,
दिवस चला छिति से मुँह मोड़।

तिमिर उतरता है अंबर से,
एक पुकार उठी है घर से,
खींच रहा कोई बे-डोर।

जो दुनिया जगती, वह सोती ;
उस दिन की संध्या भी होती,
जिस दिन का होता है भोर।

नींद अचानक भी आती है,
सुध-बुध सब हर ले जाती है,
गठरी में लगता है चोर।

अभी क्षितिज पर कुछ-कुछ लाली,
जब तक रात न घिरती काली,
उठ अपना सामान बटोर।

जाल-समेटा करने में भी
वक्त लगा करता है, माँझी,
मोह मछलियों का अब छोड़।

मेरे भी कुछ कागद-पत्रे,
इधर-उधर हैं फैले-बिखरे,
गीतों की कुछ टूटी कड़ियाँ,
कविताओं की आधी सतरें,
मैं भी रख दूँ सबको जोड़।

ये काम पर जानेवाले

दर्द श्रम का ले रगों में
जो गए थे शाम सोने,
देखते वे ही रहे हैं
रात को सपने सलोने,
प्रात में ताज़े वही
उठकर प्रभाती गा रहे हैं;
काम पर फिर जा रहे हैं।

× ×

धन्य है यात्री जिसे प्रति
प्रात लक्ष्य पुकारता है,
जो कि पथ अनुकूल
संबल और साज सँवारता है,
हौसले की ताल पर जो
पाँव आगे को बढ़ाता,
रवि-किरण-सा मुसकराता।

ऋतु-कुऋतु पर सोचता है
राम की ऐसी रज़ा है,
पंथ की कठिनाइयों को
झेलने में भी मज़ा है,
लक्ष्य को पाकर नहीं
अभिमान की ठोकर लगाता ;
हाथ ऊपर को उठाता।

और देखो यह अभागा
काम करने आ रहा है,
आ रहा है, या विवश
खींचा कहीं को जा रहा है ;
यह दिवस में किन प्रमादों
क्षुद्रताओं में फँसा था,
रात भी उनसे ग्रसा था।

आँख इसने प्रात के
संदेश से आँजी नहीं है,
जीभ इसने प्रार्थना से,
गात से माँज़ी नहीं है,
यह नियति से, प्रकृति से
परिवार से झगड़ा किए-सा,
अहं की मदिरा पिए-सा।

यह सभी के प्रति शिकायत
ही शिकायत से भरा है,
यह समझता है कि सब
संसार खोटा, यह खरा है,
होठ से सारे जगत को
कोसता-सा लग रहा है,
द्वेष-विष में पग रहा है।

यह न पहुँचेगा कहीं पर
लक्ष्य ही इसका नहीं है,
व्यर्थ इसके वास्ते नभ
घूमता, भ्रमती मही है,
यह कृतज्ञ नहीं किसीका,
और इसका भी न कोई,
इस अवस्था में नरक की
वेदना सारी समोई !

युग के दीप

मेरे युग के दीप, कहाँ हो ?

नहीं रात से मैं घबराता,
प्रतिदिन यह तम आता-जाता,
चिंता वहाँ कहाँ शशि, तारक, गतिमय सूर्य जहाँ हो।
मेरे युग के दीप, कहाँ हो ?

ज्वाल जगाई, क्या कठिनाई ?
आग कहाँ महँगी है, भाई।
ऐसा आँगन कहाँ जहाँ पर तिमिर सदैव रहा हो।
मेरे युग के दीप, कहाँ हो ?

विरह निशा का भी अँधियाला,
कहे किस तरह सूना, काला,
वह जिसके कंठस्थल से मधु-ज्योतित गीत बहा हो।
मेरे युग के दीप, कहाँ हो ?

औ' जो जीवन पार अँधेरा,
जैसे सबका, वैसे मेरा,
उसकी फ़िक्र उसे करने दो जो इस वक्त वहाँ हो।
मेरे युग के दीप, कहाँ हो ?

लेकिन युग जब तमसावृत हो,
तब क्यों विकल न कवि का चित हो
विफल जबकि रवि, शशि, तारक-दल, दीपक, राग रहा हो।
मेरे युग के दीप, कहाँ हो ?

युग की उदासी

अकारण ही मैं नहीं उदास ।

अपने में ही सिकुड़-सिमटकर
जो लेने का बीता अवसर,
जब अपना सुख-दुख था अपना ही उछाह-उच्छ्वास ।
अकारण ही मैं नहीं उदास ।

अब अपनी सीमा में बँधकर
देश - काल से बचना दुष्कर,
यह संभव था कभी नहीं, पर संभव था विश्वास ।
अकारण ही मैं नहीं उदास

एक सुनहले चित्र-पटल पर
दाग़ लगाने में है तत्पर,
अपने उच्छृंखल हाथों से उत्पाती इतिहास ।
अकारण ही मैं नहीं उदास ।

एक राग था ध्वनित धरा पर,
न्यौछावर जिसपर था अंबर,
उसे बनाता जाता है कोलाहल अपना ग्रास।
अकारण ही मैं नहीं उदास।

अनदेखा, अनसुना किए सब,
कोई नेता-संत नहीं अब,
दुर्वासा के स्वर में गरजे, 'अरे, ठहर बदमाश।'
अकारण ही मैं नहीं उदास।

बलि की प्रथा

देश में बलि की प्रथा रहे !

अंधकार मत छाने पाए,
रवि, शशि, तारकदल छिप जाए,
तेल चुके, बाती जल जाए, तो धन-धाम दहे !
देश में बलि की प्रथा रहे !

जो कलंक धुल सके न जल से,
आँसू से, श्रम-सीकर बल से,
उसे छुड़ाने को शहीद का अविरल रक्त बहे !
देश में बलि की प्रथा रहे !

उसे कहीं से खोला जाए,
यह इतिहास न कहने पाए,
शीश झुकाकर हमने जीवन में अन्याय सहे !
देश में बलि की प्रथा रहे !

राष्ट्रीय बाल-दिवस

(१४ नवंबर, १९५७)

भारत के कोने-कोने से हम सब बच्चे आए हैं,
नई उमंगों-आशाओं का हम संदेसा लाए हैं।

हम गिरि की ऊँचाई लाए,
हम सागर की गहराई,
हम पूरब से आए, लाए
प्रात किरण की अरुणाई।
भारत के कोने-कोने से हम सब बच्चे आए हैं,
नई उमंगों-आशाओं का हम संदेसा लाए हैं।

हम पच्छिम से आए, लाए
आग - राग राजस्थानी,
हम लाए हैं गंग-जमुन के
संगम का निर्मल पानी।
भारत के कोने-कोने से हम सब बच्चे आए हैं,
नई उमंगों-आशाओं का हम संदेसा लाए हैं।

कल आनेवाली दुनिया में
हम कुछ कर दिखलाएँगे,
भारत के ऊँचे माथे को
ऊँचा और उठाएँगे।
भारत के कोने-कोने से हम सब बच्चे आए हैं,
नई उमंगों-आशाओं का हम संदेसा लाए हैं।

थल-सेना का

प्रयाण-गीत

चल मरदाने, सीना ताने,
हाथ हिलाते, पाँव बढ़ाते,
मन-मुसकाते गाते गीत !

एक हमारा देश, हमारा
वेष, हमारी कौम, हमारी
मंज़िल, हम किससे भयभीत ?
चल मरदाने, सीना ताने,
हाथ हिलाते, पाँव बढ़ाते,
मन-मुसकाते गाते गीत ।

हम भारत की अमर जवानी,
सागर की लहरें लासानी,
गंग-जमुन के निर्मल पानी,

हिमगिरि की ऊँची पेशानी,
सबके प्रेरक, रक्षक, मीत।
चल मरदाने, सीना ताने,
हाथ हिलाते, पाँव बढ़ाते,
मन-मुसकाते गाते गीत!

जग के पथ पर जो न रुकेगा,
जो न झुकेगा, जो न मुड़ेगा,
उसका जीवन, उसकी जीत।
चल मरदाने, सीना ताने,
हाथ हिलाते, पाँव बढ़ाते,
मन-मुसकाते गाते गीत।

नौ-सैनिकों का

प्रयाण गीत

हम सदा जवान !
हम सदा जवान !

हम चले प्रभात की किरन-किरन को चूम,
हम चले प्रभात के पवन पे झूम-झूम,
हम चले पुकारते कि हो गया विहान !
हम सदा जवान !
हम सदा जवान !

हम चले उमंग की बताई राह पर,
हम चले तरंग की बनाई राह पर,
हम चले दिशाओं में गुँजाते जीत-गान !
हम सदा जवान !
हम सदा जवान !

हम चले चुनौती बन के युग-जहान को,
औ' चुनौती बन के मौत को, मसान को,
हम चले लहर-लहर पे देते इम्तहान !
हम सदा जवान !
हम सदा जवान !

है नहीं सहल कि हमको दे कोई पछाड़,
हम गिराए सिंधु के पहाड़ पर पहाड़,
हम सबल भुजाओं पर उठाए आसमान !
हम सदा जवान !
हम सदा जवान !

हमको श्रम से, ग़म से हारना हराम है,
हमको हर पड़ाव कूच का मुक़ाम है,
हम न थमना जानते, न जानते थकान !
हम सदा जवान !
हम सदा जवान !
हम सदा जवान !

स्वागत-गान

देश-देश के पाहुन भारत के जन-गण का स्वागत लो।
पूरब की इस परम पुरातन बेदी पर सब साथ मिलो।

यह धरती है रामचन्द्र की,
यह है कृष्ण मुरारी की,
यह गौतम की, यह गाँधी की,
सत्य - अहिंसाधारी की,

वेदों की, जो घोषित करते संगच्छध्वं—साथ चलो।
देश-देश के पाहुन भारत के जन-गण का स्वागत लो।
पूरब की इस परम पुरातन बेदी पर सब साथ मिलो।

इसपर बसते हिंदू, मुस्लिम,
बौद्ध, जैन, सिख, ईसाई,
और पारसी, और सभी हैं
आपस में भाई - भाई।

भारत कहता मानवता के साँचे में सब लोग ढलो।
देश-देश के पाहुन भारत के जन-गण का स्वागत लो।
पूरब की इस परम पुरातन बेदी पर सब साथ मिलो।

देश - देश की सीमाओं की
दीवारों के घेरे में
एक बसा परिवार, मगर है
झगड़ा मेरे - तेरे में।

शांति बसेगी, सुख बरसेगा, पंचशील का व्रत सब लो।
देश-देश के पाहुन भारत के जन-गण का स्वागत लो।
पूरब की इस परम पुरातन वेदी पर सब साथ मिलो।

—के जन्म-दिन पर

जन्म-दिन आया, आया री,
गगन में बादल छाया री !
हवाओं में रस बूंद भरी,
धरणि पर हरियाली बिखरी,
विहंगम का दल गाता है,
नींद से तुझे उठाता है,
जाग री, माता की प्यारी,
जाग पापा की सुकुमारी !
बधाई - प्यार हमारा ले,
नहीं अब तू बच्ची बाले !
बड़ी होकर जीवन में बढ़,
अनोखा मन का सपना गढ़,
कल्पना सच निकले तेरी,
दुआएँ लेती जा मेरी,
जन्म-दिन आया, आया री,
गगन में बादल छाया री !

हवाओं में रस बूंद भरी
धरणि पर हरियाली बिखरी ;
प्रकृति है हरी-भरी जैसे
बने जीवन तेरा तैसे !

—के जन्म-दिन पर

आज तुम्हारे जन्म-दिवस की
मंगल-बेला आई है ;
सूरज की कंचन-किरनों की
तुमको आज बधाई है।
मंगल-बेला आई है !

आज तुम्हारे जन्म-दिवस की
मंगल-बेला आई है ;
फूल-कली की मुसकानों की
तुमको आज बधाई है।
मंगल-बेला आई है !

आज तुम्हारे जन्म-दिवस की
मंगल-बेला आई है ;
भूमि - गगन के वरदानों की
तुमको आज बधाई है।
मंगल-बेला आई है !

आज तुम्हारे जन्म-दिवस की
मंगल-बेला आई है ;
हर्ष- उमंग भरे नयनों की
तुमको आज बधाई है ।
मंगल-बेला आई है !

चित्रलेखा

(नाटकरूप में प्रस्तुत श्री भगवतीचरण वर्मा-लिखित
'चित्रलेखा' के लिए गीत)

१.

[गुरु रत्नांबर, श्वेतांक, और विशालदेव तीनों गाते हैं]

किधर है पाप ? पुण्य किस ओर ?

धर्म-अधर्म, उचित-अनुचित का
जग में किसको ज्ञान ?
क्या मानव जीवन-धारा पर
बहता-सा जलयान ?

क्या लहरों के पागल-चंचल,
या तारों के निश्चित-निश्चल,
या प्रभु के मंगलमय हाथों में है जग की डोर ?
किधर है पाप ? पुण्य किस ओर ?

२.

[बीजगुप्त के भवन में चंचला का गीत]

संध्या स्नेह-मिलन की बेला।

अस्ताचल पर सूरज लौटा
नभ में लौटे तारे,
शाखाओं पर पंछी लौटे
लौटे सजन हमारे,

दीप जलाऊँ,
पलक बिछाऊँ,
ललक लगाऊँ मन-भावों का मेला।
संध्या स्नेह-मिलन की बेला।

३.

[श्वेतांक चित्रलेखा के घर से लौटकर बीजगुप्त से उन्माद में बातचीत करता है और सो जाता है। सूर्योदय होते ही चित्रलेखा बीजगुप्त के घर आती है। उसके पूर्व चंचला का गीत]

छोड़ कमल की सेज न भँवरा, दूर न अब तो भोर।

अंबर से नौबत बजती है,
ऊषा किरणों से सजती है,

ढलता चाँद, चाँदनी झड़ती, देख उदास चकोर।
छोड़ कमल की सेज न भँवरा, दूर न अब तो भोर।

कौन अँधेरे में थे सहमे ?
किनकी बीती रात विरह में ?

पौ फटते ही चकवी आई है चकवे की ओर।
छोड़ कमल की सेज न भँवरा, दूर न अब तो भोर।

४.

[चित्रलेखा अपना सारा वैभव छोड़कर कुमारगिरि की कुटी में आती है। विशालदेव का गीत]

देखूँ आज विजय किस ओर।
एक तरफ जोगी को अपने
तप-बल का अभिमान,
एक तरफ हैं काम बली के
हाथ सुमन के बान,
जिनके लक्ष्य बने बहुतेरे,
क्या छोटे, क्या बहुत बड़े, रे,
बेध न देती किसको तरुणी के नयनों की कोर.
देखूं आज विजय किस ओर।

५.

[कुमारगिरि इस असमंजस में है कि चित्रलेखा को दीक्षा दे कि न दे। विशालदेव का गीत]

देखूँ आज विजय किस ओर।
सुंदरता जोगी के दर पर,
ले यौवन उपहार;
किंतु पुकार रहा है उसको
रंग महल से प्यार।

जोगी के मन में असमंजस,
प्रेमी का मन सब दिन पर-बस,
देखूँ तो चलता है किसके ऊपर किसका ज़ोर ?
देखूँ आज विजय किस ओर ।

६.

[कुमारगिरि चित्रलेखा से झूठ बोलता है कि बीजगुप्त ने यशोधरा से विवाह कर लिया । चित्रलेखा इसे सुनकर अपने को कुमारगिरि को समर्पण कर देती है। विशालदेव का गीत]

छाया अंधकार घनघोर !
बादल ने बिजली के कानों
में कह दी क्या बात ?
लिपट गई उसकी काया से
थर - थर कंपित गात ।
आग और पानी !—क्या नाता ?
कौन सदा को धोखा खाता ?
भोर कहेगा किसके मन के अंदर बैठा चोर ।
सबेरे के पंछी कर शोर ।

गीत - निष्ठा

तुम गए थे सोख
जिस सरसा रसा को,
मरु बना जिस उर्वरा को,
आज उसपर
गीत मैं बरसा रहा हूँ ;
शुष्क, जड़, निर्जीव, नीरस
इन कणों में
एक भी यदि भीगता है,
तो अकाल अभी नहीं पूरा पड़ा है ;
अन्न का दाना
कहीं, कोई, गड़ा है ;
अंकुरित होगा पुनः वह,
पल्लवित होगा पुनः वह,
बालियाँ ऊपर उठेंगी,
खेत से खलिहान जाते
आँख मारेंगी तुम्हें
औ' व्यंग से तुमपर हँसेंगी ।

तुम गए थे भस्म कर जिस भूमि को
मैं आज उसपर
गीत गाने जा रहा हूँ,
इन जले, अधजले, गिरते, करुण, सूने
खँडहरों से
गीत मेरे प्रतिध्वनित होते अगर हैं
तो अभी तक सर्वनाश नहीं हुआ है,
सृजन के कुछ बीज बाक़ी रह गए हैं,
प्रीति पनपेगी यहाँ फिर,
शिशु हँसेंगे फिर यहाँ पर,
वृद्धजन उगते, उभरते और बढ़ते
नवयुवक-नवयुवतियों को
सिर हिला आशीष देंगे।

तुम गए थे
तप्त, काला, तीक्ष्ण-गंधी
विष उगलकर जिस जगह पर,
तुम गए थे
दाँत नागों, अजदहों के, दानवों के
बो जहाँ पर,
एक नर-कंकाल को
अख़बार के कागज़ पिन्हा,
टेढ़ा खड़ा कर,
हाथ में दे

तिमिर-भुक्त उलूक का नोचा हुआ पर,
मैं वहाँ पर
बीन लेकर आ रहा हूँ,
गीत गाने जा रहा हूँ,
मंत्र-द्रष्टा पूर्वजों की
ओर अपनी
शक्ति को मैं
आज़माने जा रहा हूँ ;
धुंध के, दुर्गंध के,
गतिरोध के, दम घोटते
वातावरण में
एक सिहरन भी हुई तो
विकृतियों के छल भरे
षड्यंत्र का विस्फोट होगा,
मलय के झोंके चलेंगे,
अमृतवर्षी मेघ
उमड़ेंगे, झरेंगे,
सर भरेंगे,
लहर लेंगे,
किरन पेंगें भरेगी औ'
कमल सीधा उठेगा, खुल मुसकराएगा,
हंसिनी फिर हंस को छाती लगाएगी,
हंसिनी को हंस फिर मोती चुगाएगा ।

विशुद्ध कविता

विशुद्ध कविता की
परिभाषा की,
अरे, तुमने मुझसे प्रत्याशा की ।
यह तुम्हारा भोलापन है,
या हो भी सकती है चालाकी ।
कोकिल ने कभी बताया है
कि बहार क्या है,
सौरभ-मृग ने कभी बताया है
कि सुगंध क्या है,
सरिता ने कभी बताया है
कि प्रवाह क्या है,
पर मैं सवालों से सवाल नहीं टालूंगा,
तुम्हें अचंभे में नहीं डालूंगा ।
जिसने भी मेरे मन का द्वार खटकाया है,
उत्तर पाया है ।
अभी मैं या अब मैं
इतना पागल नहीं,

इतना मतवाला नहीं
इतना बहाव में नहीं
कि तटस्थ न हो सकूँ।
तट पर आऊँगा,
तुम्हें बतलाऊँगा;
पर यह ज्ञान नहीं
सीले, अधगीले,
रेतीले, चमकीले
अक्षरों का किनारा है;
अनुभवों की लहर है, भँवर है, हहर है,
गहराई है, गति है, धारा है।

पता नहीं कविता को
तुमने कहाँ देखा है,
कहाँ नहीं देखा है,
लेकिन मैंने कविता को
कहाँ नहीं देखा है!
फिर भी मेरी अनुभूति यह कहती है,
अक्षरों में, शब्दों में,
सतरों में, छंदों में,
बंदों में, जिल्दों में
कविता सबसे कम रहती है।
ये उसके पते भर हैं,
वह खुद नहीं है।

इनके सहारे
तुम उसे खोज सकते हो,
पा सकते हो ।
उसके बहुत-से घर हैं ।

दुनिया के सारे कारबार,
जीवन के सारे व्यवहार,
समय की हर हलचल,
हर व्यापार में
जहाँ जान है, ताज़गी है,
कुशादगी है, उदारता है,
उत्सर्ग है, दान है, बलिदान है,
वहाँ कविता का मकान है,
वह खुली ज़मीन, खुला आसमान
पसंद करती है,
खुली हवा में निखरती है, उभरती है ।
ग़लत न समझ लेना,
प्रकृति के अपवर्ग में नहीं,
उसमें तो भगवान की कविता उतरती है,
इंसान की कविता—विशुद्ध कविता—
सुकृति के निसर्ग में उभरती है ।

जब आनंद-सुगंध के,
साँसों के साथ आने,

प्राणों में उथल-पुथल मचाने,
समाने, बस जाने का आभास हो,
तब समझ लो
कि तुम कहीं कविता के आसपास हो।

हर सफ़र की आखिरी मंज़िल
बहुत मुश्किल होती है,
पर्वतारोही
चोटी बस चार बीते रहते
फिसलता है,
तैराक़ किनारे पर डूबता है,
प्रेमियों की कमंद लबेबाम से,
दो-चार हाथ नीचे टूटती है,
धीरज से काम लो।
ग़लत न समझ लेना,
इस यात्रा की
सबसे ऊँची चोटी,
सबसे नीची खाई,
सबसे गहरी-तेज़ नदी
बाहर नहीं, भीतर होती है।

इसे लाँघ जाओ
वह दिखेगी, मिलेगी, महकेगी
तुम्हें बास देगी,

मुसकराएगी, हँसेगी, बोलेगी, गाएगी
तुम्हें गूँज देगी,
पसीजेगी, पिघलेगी, ढलेगी, ढुलकेगी
तुम्हें तृप्त कर देगी ।
कुछ यहाँ स्तब्ध-मौन हो जाते हैं,
वे दुनिया के सबसे बड़े कवि हैं ।
कुछ अहंविहीन, ईर्ष्याविमुक्त
उसके पते बताते हैं—
जो खोज सकें खोजें,
जो पा सकें पाएँ, आएँ,
उसके रस का पान करें,
उसके अमृत में नहाएँ ।
पर ज़्यादा, पते तो बताते हैं,
पर उनसे लोग उसका पता नहीं पाते हैं,
खोज-खोज परेशान हो जाते हैं,
क्योंकि वे साथ
अपने पते भी मिला देते हैं—
प्यार और पूजा में
दग्ध-द्रवित हुए बिना
अहंशेष,
कवि-कुवेष ।

छुरी और मूठ

इस्पात,
पक्की धातु,
पत्थर-कोयले की आग,
मुर्दा और काली खाल की फुफकार,
चट-चिनगारियों की चौमुखी बौछार,
लोहे की शलाका लाल,
सड़सी की पकड़,
घन की ठनाठन चोट,
पत्थर की रगड़,
चमचम चमकती धार,
हाथों में छुरी तैयार !
हत्या, खून, वध का
क़त्ल का औज़ार !
इसकी मूठ का क्यों
हो रहा शृंगार ?

मधुवन की लता सुकुमार,
कोमल पल्लवों की पाँत,
विकसा फूल,
मुकुलित पुष्प,
कलिका कुछ खुली, कुछ बंद,
बूँदें ओस की,
ज्यों भाव-भीगा छंद,
भँवरा ढूँढता रस-गंध ;
बीचोबीच में
बारीक तिनकों का सलोना नीड़,
जिसमें एक नर-मादा
बसेरा छोड़,
होते भोर,
किरणों के अजिर में
गीत-प्रीति-उड़ान भरने को समुत्सुक !

तेज़ होकर भी छुरी यह
रक्त की प्यासी नहीं है,
यह नहीं हिंसा करेगी,
नहीं क़ातिल को वरेगी,
नहीं दिन या रात को
छिपती फिरेगी,
क्योंकि इसको
अब कला ने छू दिया है।

मेज़ पर मेरी सजेगी,
नए कवि के
नए कविता-संकलन के
जुड़े पन्ने
यह अलग केवल करेगी,
औ' मिलाएगी
नए संसार की
नव कल्पना,
नव भावना,
नव प्रेरणा,
संवेदना से।

जब नदी मर गई—
जब नदी जी उठी

कौन था वह युगल
जो गलती-ठिठुरती यामिनी में
जब कि कैम्ब्रिज
श्रांत, विस्मृति-जड़ित होकर
सो गया था
कैम के पुल पर खड़ा था—
पुरुष का हर अंग
प्रणयांगार की गरमी लिए
मनुहार - चंचल,
और नारी
फ्रीजिडेयर से निकाली,
संगमरमर मूर्ति-सी
निश्चेष्ट,
निश्चल ।
घड़ी ट्रिनिटी की
अठारह बार बोली,

युगल ने
छत्तीस की मुद्रा बना ली ;
और तारों से उतर कुहरा
सफ़ेद भभूत - सा
सब ओर फैला।
मैं दबे पावों
निकलकर पास ही से
कुछ डरा-सा,
पहुँच 'डिग' में, थका-माँदा
व्यस्त लंदन के दिवस का,
बिस्तरे में घुसा, सोया, मरा-सा ही।

प्रात उठकर देखता हूँ—
बरफ़—बरफ़—बरफ़ !
निकट से, दूर से भी घूरती-सी बरफ़ !
उजली, चमचमाती बरफ़
चारों तरफ़ !
ऐसा दृश्य पहले भी
दृगों के सामने आ-जा चुका है।
किंतु आज अजीब-सी छाई उदासी,
नगर में निर्जीव-सा कुछ हो गया है,
एक चलती साँस जैसे थम गई है,
एक परिचित मंद-अस्फुट स्वर
अचानक बंद जैसे हो गया है।
कुछ कहीं अविराम चलता,

दूसरों को भी चलाता,
या कि चलने का सतत आभास देता,
यकायक रुक-सा गया है
और दिल कुछ धड़कनों को भूल
रह-रह डूब-उतरा-सा रहा है ।
कैम नदी मरी पड़ी है,
गति नहीं, कल-कल नहीं,
छल-छल नहीं है,
कैम सारी जम गई है,
कफ़न-सी उसपर बरफ़ की तह चढ़ी है ।
अब नहीं उसमें झलकते और हिलते
चर्च, गुंबद और तट के भवन सुंदर
ले विविध आकार,
कौतूहल विवर्धक ।
(ज़िंदगी का विकृत, खंडित, क्षणस्थायी
बिम्ब भी जीवंत कितना !)
पंट सारे कूल-कीलित ;
हंस-जल-कुक्कुट कहीं को उड़ गए हैं ।
एक कंकड़ मैं उठाकर फेंकता हूँ,
'डुप्प' से अंदर न जाकर,
टनटनाता बीच में जाकर पड़ा है ।
नगर के कुत्ते सतह पर दौड़ते हैं,
गिलहरी इसपार से उसपार जाती ।
क्या यही उपयोग उसका रह गया है

हो गई पाषाण जिसकी सरस छाती ?—
कौन था वह युगल
जो शीतल, सिहरती यामिनी में
जबकि कैम्ब्रिज
शांत, स्वप्न-विमुग्ध होकर
सो गया था
कैम के पुल पर खड़ा था—
पुरुष का हर अंग
प्रणयांगार की गरमी लिए
अभिसार - चंचल
और नारी
ढाल साँचे में निकाली
मोम की प्रतिमा
भुजाओं में सिमटती-सी
पिघलती ।
घड़ी ट्रिनिटी की
बिगड़कर टनटनाती जा रही थी,
युगल
तिरसठ की बना मुद्रा
जगत से बेख़बर था ।
और तारों से हवा का एक झोंका
चला सुरभित, गीत-गुंजित
औ' उसी के साथ बहता,
कड़ी कोई गुनगुनाता,

पहुँच डिग में
एक मैंने बड़ी लंबी,
प्रेम-पाती लिखी,
तकिये को कलेजे से दबाकर
सो गया मैं।

प्रात उठकर देखता हूँ,
बरफ़ चारों तरफ़ की
जैसे किसी जादूगरी से
उड़ गई है।
गगन में छाया कुहासा और घन
जैसे किसी के मंत्र पढ़ने से
अचानक झड़ गया है।
किरण कोई ऐंद्रजालिक शक्ति ले
चट्टान हिम की छू रही है,
सौ जगह से जो दरकती-टूटती है,
फूटती जलधार ऊपर फैलती है,
और टकराती परस्पर हिम शिलाएँ
बह चली हैं, बह रही हैं, बह गई हैं।
क़ब्र जैसे तोड़ मुर्दा उठ पड़ा है,
क़फ़न जैसे फाड़ जीवन झाँकता है,
ज़िंदगी की साँस देती है सुनाई,
लहर के मंजीर मुखरित हो रहे हैं,
लहर-लहरों, धार-कूलों की ठठोली
कान में आने लगी है—

पुनः कलकल, पुनः छलछल ।
चर्च, गुंबद और तट के भवन सुंदर
कूद सिर के बल नदी में
स्नान करने लग गए हैं,
पंट तिरता आ रहा है,
नवयुवक उसपर खड़ा
लग्गी सलिल में डाल-डाल निकालता है,
बीच बैठी नील-नयना
एक गुड़िया की जुराबें बुन रही है,
और आगे
हंस जोड़ा
वीचियों के भूलने पर
उभर-गिरता बढ़ा आता,
रास्ता जैसे दिखाता ।

एक जोड़ा खड़ा पुल पर
इस समय भी
मुसकराता ।

नोट—इंग्लैंड के विश्वविद्यालय-नगर कैम्ब्रिज के बीचोबीच होकर एक नदी बहती है, जिसका नाम कैम है । इसपर आर-पार जाने के लिए कई पुल हैं । इसीके किनारे के कालेजों में एक ट्रिनिटी कालेज है जिसकी घड़ी १५-१५ मिनट पर ४-८-१२-१६ घंटियां बजाकर घंटा बताती बजाती है । 'डिग' उन घरों को कहते हैं जहां विद्यार्थी निजी प्रबंध करके रहते हैं । 'पंट' कैम पर चलनेवाली नावों को कहते हैं जो प्रायः लग्गी से चलाई जाती हैं ।

तुम्हारी आँखों में—तब और अब

एक दिन देखा तुम्हें था
और देखे थे तुम्हारे नयन
जिनके दायरों में,
लहलहाती एक घाटी में
बने प्रेमी युगल के मोद-मंदिर कक्ष के
अनिमेष वातायन खुले थे ;
और उनके पार दिखलाई पड़ा था
दूर छाया-रूप गिरि की चोटियों पर
टिका, फैला
नील-शांत-उदार अंबर ;
और उसके तले
मरकत शस्य वाली,
सरस-उर्वर,
स्नेह-स्निग्ध,
वसुंधरा की बाहुओं में
पला छोटा-सा सरोवर,
लहर जिसमें उठ मचलने को समुत्सुक ।

ठीक बीचोबीच में थे दो कमल-दल,
हीरकों-से दीप्त-झलमल ;
और उनके बीच
पंकज की कली
कुछ सिर उठा, घूँघट हटा,
अचरज भरा कुछ देखने में
निरत-निश्चल थी ;
भ्रमर कुछ भाँवरों-सी
दे रहे थे
गुनगुनाते ;
बे पिए ही मग्न-माते !

शुद्ध यह कैसा नशा है !
किंतु मैं संघर्ष में खींचा-खदेड़ा,
वासना से तप्त, प्रेरा ;
यह न मेरा, यह न मेरा, यह न मेरा !

× ×

और तुमको आज फिर मैं देखता हूँ,
देखता हूँ नयन के वे दायरे
जिनपर कि नक़ली दायरे भी लग गए हैं ।
आज रोशनदान हैं वे
किसी दफ्तर के, पुराने ।
और उनमें झाँककर मैं
डर गया, घबरा गया हूँ :
झुकी छत से लगे जाले

धुआँ जिनमें सिगरटों का जा अटकता ;
फ़र्श भर पर जा-ब-जा धब्बे अनोखे
लाल, नीली और काली रोशनाई के ;
बहुत-से मुंशियों,
चपरासियों के, साहबों के
हाथ लगने से घिसी, मैली, पुरानी और मुर्दा
फ़ाइलों की कहीं सीधी
औ' कहीं टेढ़ी कतारें ;
(क्या यही यमराज का लेखा-भवन,
जिसमें कि हर क्षण, हर किसी का
काम अंकित हो रहा है ?)
ठीक बीचोबीच में है मेज़ जिसपर
नियम, अनुशासन, प्रशासन, आचरण की
संहिताएँ डेढ़ दर्जन, सख़्त-गर्दन,
गर्व से तनकर खड़ी हैं ।
काग़ज़ी तालाब के इस कठ-कमल का
रस, पराग, सुहाग संचित है इन्हींमें ।
और भौंरे को ज़रूरत क्या पड़ी है
व्यर्थ में चक्कर लगाए,
जबकि है अधिकार उसको
फ़ोन से तुमको बुलाए ।
दंभ-परवशता किसी से कुछ कराए ।

किंतु मैं उन्मुक्त धरती का, गगन का,
हृदय की स्वच्छंदता-सुकुमारता का,
प्यार का, मनुहार का
कुछ स्वप्न अब भी हूँ सँजोए,
और अब भी मूलतः रस-राग प्रेरा,
इसलिए फिर यही कहता विदा लेता,
यह न मेरा, यह न मेरा, यह न मेरा !

टूटे सपने

—और छाती वज्र करके
सत्य तीखा
आज यह
स्वीकार मैंने कर लिया है,
स्वप्न मेरे
ध्वस्त सारे हो गए हैं !
किंतु इस गतिवान जीवन का
यहीं तो बस नहीं है ।
अभी तो चलना बहुत है,
बहुत सहना, देखना है ।

अगर मिट्टी से
बने ये स्वप्न होते,
टूट मिट्टी में मिले होते,
हृदय में शांत रखता,

मृत्तिका की सर्जना-संजीवनी में
है बहुत विश्वास मुझको।
वह नहीं बेकार होकर बैठती है
एक पल को,
फिर उठेगी।

अगर फूलों से
बने ये स्वप्न होते
और मुर्झाकर
धरा पर बिखर जाते,
कवि-सहज भोलेपने पर
मुसकराता, किंतु
चित को शांत रखता,
हर सुमन में बीज है,
हर बीज में है बन सुमन का।
क्या हुआ जो आज सूखा,
फिर उगेगा,
फिर खिलेगा।

अगर कंचन के
बने ये स्वप्न होते,
टूटते या विकृत होते,
किसलिए पछताव होता ?

स्वर्ण अपने तत्त्व का
इतना धनी है,
वक्त के धक्के,
समय की छेड़खानी से
नहीं कुछ भी कभी उसका बिगड़ता।
स्वयं उसको आग में
मैं झोंक देता,
फिर तपाता,
फिर गलाता,
ढालता फिर !

किंतु इसको क्या करूँ मैं,
स्वप्न मेरे काँच के थे !
एक स्वर्गिक आँच ने
उनको ढला था,
एक जादू ने सँवारा था, रँगा था।
कल्पना - किरणावली में
वे जगरऽमगर हुए थे।
टूटने के वास्ते थे ही नहीं वे।
किंतु टूटे
तो निगलना ही पड़ेगा
आँख को यह
क्षुर-सुतीक्ष्ण यथार्थ दारुण !
कुछ नहीं इनका बनेगा।

पाँव इनपर धार बढ़ना ही पड़ेगा
घाव-रक्तस्राव सहते ।
वज्र छाती में धँसा लो,
पाँव में बाँधा न जाता ।
धैर्य मानव का चलेगा
लड़खड़ाता, लड़खड़ाता, लड़खड़ाता ।

युग की विकृतियाँ

ओ समर्पण के लिए व्याकुल हृदय,
युग देख,
युग की विकृतियों को देख।

कौन अब होता समर्पित ?
और हो भी किसलिए जब
आप अपने को समर्पित हो गए सब,
और फिर भी हैं नहीं पर्याप्त
वे अपने लिए ही ?
आँख अपने आपको ही
देखते थकती नहीं है ;
और अपने से अलग
अस्तित्व, जीवन, भावना से
रिक्त दर्पण-सा सभी है।

तू किसी की जो प्रशंसा कर रहा है,
वह समझता है

कि अपनी ईर्ष्या तू
सभ्यता से व्यक्त करता,
या कि उससे स्वार्थ अपना साधने को
भूमिका-सी गढ़ रहा है ।
तू किसी के वास्ते यदि
त्याग औ' बलिदान करता,
वह समझता,
एक हुंडी तू बनाने में लगा है,
जो कभी अखबार पर चढ़ भुन सकेगी ।
तू किसी को यदि सहारा दे रहा है,
वह समझता,
तू निकटता
चाहता है जेब उसकी काटने को ।
दान यदि तू दे रहा है,
वह समझता है
कि कोई बड़ी चोरी
तू छिपाना चाहता है ।
यदि किसी पर तू निछावर,
यदि किसी से प्यार तुझको,
वह समझता,
ग्रंथियाँ तेरी अविकसित हैं,
निबल हैं,
जज़्ब कर सकतीं न अपने आप में ही
स्राव अपना,

या दिमाग़ी-पेंच तेरा
हो गया ढीला कहीं पर ।

ओ समर्पण के लिए व्याकुल हृदय,
युग देख,
युग की विकृतियों को देख ;
क्योंकि तुझको देखनेवाला नहीं है,
क्योंकि तू अस्तित्व, जीवन, भावना की
है नहीं कोई इकाई,
क्योंकि तू दर्पण महज़ है,
क्योंकि तू अपना नहीं कुछ,
दूसरों की सिर्फ़ परछाईं ।

दर-दर निछावर

ओ समर्पणशील मन,
तुझको कटहरे में खड़ाकर,
लक्ष्य तुझको सौ निगाहों का बनाकर,
खोजकर भूली हुई, बूढ़ी नज़ीरें
लटी-टूटी जिल्द वाली,
कीट-खाई पोथियों से
मैं तुझे
दोषी नहीं ठहरा रहा हूँ ।
क्योंकि यह अपराध नूतन है,
नए संसार-युग का ।
देश घेरा, जाति घेरा, वेश घेरा,
रीति घेरा, नीति घेरा,
अर्थ घेरा, व्यर्थ घेरा,
और घेरे बीच घेरा,
औ' उसी के बीच
मेरा और तेरा !

उस समय अधिकार का
अपराध संभव था,
समर्पण का नहीं था।
इस समय घेरा नहीं स्वीकार मन को ;
इसलिए वह
हर घिरे परदे,
घिरी दीवार में,
वातावरण में,
है जहाँ दुर्बल वहाँ पर घुट रहा है,
है जहाँ पर सबल विद्रोही बना है।

मगर तू निज कल्पना की
तरल, मुक्त, अबाध साधों पर प्रवाहित
सुरुचि-प्रेरित, कुरुचि-प्रेरित
है समर्पित
कभी इस पर, कभी उस पर,
कभी उस पर···

मैं नहीं स्वच्छंदता को
दोष कहता,
मैं समर्पण को
नहीं अपराध कहता,
(कभी कमज़ोरी भले ही मान लूँ मैं)
किंतु तेरा दोष ओ' अपराध,

जान, अपूर्णता है।

वह समर्पण क्या
कि जिसमें रह गया कुछ
दूसरे को, तीसरे को
या कि चौथे, पाँचवें को, सातवें को···।
तू निछावर
आज तक जिन पर हुआ है
उन सबों की एक सूची
तो बनाकर देख,
सब में एक
ऐसी चीज़ है
जो खींचती बरबस तुझे,
सरबस तुझे है।
और तुझसे
दान सरबस चाहती है

ओ कृपण,
अनुदार,
अपना खोलकर भंडार
जो तू सब नहीं दे डालता है,
इसी से वह
सौ तरह के रूप धर कर
सामने आती, लुभाती,

औ' तुझे बेचैन
औ' लाचार करती ।

जान पहले
चीज़ वह पहचानना,
फिर सामने
नाचीज़ बनना !

ओ समर्पणशील मन, सुन,
यह समर्पण
दो जगह पर,
दो तरह से,
दो वजह से,
है असंभव ।

भ्रमर लेता घूमता दर-दर ;
कमल प्रातः पवन में
सिहर सहसा,
रस, पराग, सुवास,
पंखुरियाँ—सभी को झाड़ देता ।

कवि से

अर्थ - आखर - बल
अगर तुझको मिला है,
तो नहीं उपयोग उसका यह
कि तू अपनी व्यथाओं को बढ़ाकर कह।

वे अधिक दयनीय, करुणा-पात्र,
औ' हक़दार हैं संवेदना के,
जो कि जीवन-भार,
जग के जाल,
काल-कठिन-कँटीली गाँठ से
दबते, उछलते, देह चिरवाते
चले जाते अकेले
बिना बोले,
भाव-घावों की निशानी
बे दिखाए,
बिना खोले।

वे अधिक सुकुमार तलवे थे

कि जो कुसुमावली के पाँवड़े की आस ले
चुनते गए
वनपंथ घन कुश-कंटकों को
और विष के बुझे शूलों को ;
वे अधिक सुकुमार हाथ-हथेलियाँ थीं
जो कि प्रियतम-प्रेयसी के
बाहु-पाशों की असंभव कल्पना लेकर
बबूल, गुलाब, नागफनी हटातीं
बढ़ीं, फैलीं शून्य में ही ;
वे अधिक सुकुमार कंधे थे
कि जो अलकावली के
परस-पुलकित स्वप्न लेकर,
या कि उनपर टिके गालों पर
ढुलकती अश्रुबूँदों के सँजोकर चित्र
परबस बोझ ढोते रहे भारी
पेट अपना या पराया पाटने को ;
वे अधिक सुकुमार और सरस हृदय थे
जो चले थे वास करने
स्नेह सरिता के किनारे
पर उपेक्षा के मरुस्थल में भटकते रहे
प्यासे, बदहवासे ।

अर्थ - आखर - बल
अगर तुझको मिला है

लो इन्हीं की वेदनाओं को
मुखर कर, छंद में भर, गीत में धर ;
वेदनाएँ भी
अगर तुझको मिली हैं
तो इन्हीं की साँसतों का, संकटों का
मापदंड उन्हें बना तू ।

कर्म कविता का नहीं इससे बड़ा है
कुछ अबोलों को बोला दे;
कर्म कवि का भी नहीं इससे बड़ा है
कुछ अबोलों की कथाओं से
किसी के प्राण, मन,
जीवन शिरा को
थरथरा दे !

अमरबेली

ओ अमरबेली !
'अमरबेली' तुम्हारा नाम—केवल नाम
था काफ़ी
तुम्हारे पास मुझको खींच लाए
दूर दुनिया के सिरे से,
क्योंकि मैं हूँ मर्त्य ;
और मर्त्यों के लिए अमरत्व
आकर्षण बड़ा,
अचरज बड़ा,
सपना अनोखा,
और शायद बड़ा धोखा !

धारकर परिधान धानी
तुम खड़ी हो ;
कातकर मरकत
बुनी जैसे गई है

यह तुम्हारी रेशमी चादर
सरस, झीनी, मुलायम ।

अह, शुरू की
नातजुर्बेकार
अल्हड़ और दीवानी
जवानी के दिनों में
देख यह सज-धज तुम्हारी
क़ायदे,
ख़तरे,
नतीजे की
न कुछ परवाह करके
जान तुमपर
मैं निछावर
कर चुका होता कभी का !

किंतु मेरे कान
मेरी आँख को अब
समय के सित केश,
मोटे लेंस ने
कुछ और ही उपदेश से
दीक्षित किया है,
देखना सिखला दिया है ।

दीन में
यदि काम की कुछ बात
दुनिया को मिली है
तो यही है—
नाम की महिमा बड़ी है।
नाम पर ही
आज दुनिया पल रही है
चाल अपनी चल रही है,
और सबको छल रही है;
नाम का जादू बड़ा है।
क्रांतिकारी वह न था छोटा
कि जिसने कह दिया था—
नाम में भी क्या धरा है!

इस धरा पर
अमरबेली,
तुम अकेली ही नहीं हो
जो कि अपने नाम के बल
मानवों को ठग रही हो;
पर नहीं मैं ठगा जाऊँगा,
तुम्हारा काम पूछूँगा,
तुम्हारा रूप देखूंगा,
तुम्हारे भेद का घूंघट उठाऊँगा;
तुम्हारी आँख से सब समझ जाऊँगा,

न घबराओ,
नहीं नंगी करूँगा।
नाम इतना बड़ा लेकर,
फाड़ अंतर
तुम कभी फूलीं ?
फलीं तन भार सहकर ?
औ' कभी नैवेद्य बनकर
झड़ीं, अर्पित हुईं,
भू के देवता को ?
नहीं
तो निष्फल विशेषण अमरता का,
अमरता कुछ हो,
अहं की वह कभी कारा नहीं है।

अब ज़रा घूंघट उठाओ !—
शर्म खाओ !—
जोंक बनकर
एक तरु के रक्त-रस को
चूस तुम पोषित हुई हो।
पीत होकर पत्तियाँ इसकी गईं झड़
और डालें हुईं सूनी, रुग्ण-रूखी,
किंतु फिर भी
भूमि से जल खींच
तुमको वह पिलाता, पालता, रखता अधर में,

प्रकृति की यह विवशता कि उदारता !—

आकाश-वासिनि,
ज़िंदगी माटी-जुड़ी, माटी-लगी, माटी-सनी
ही सुंदरा है, निर्मला है, उर्वरा है ;
भूमि की कतवार-कीचड़-कालिमा से
दूर रहकर तुम कुरूपा, तुम कुवर्णा,
तुम कठोरा, तुम कराला हो गई हो ।
राक्षसी हो !
गगनवासी देवताओं का ज़माना लद गया है।
अमरता ख़ुद जिए जाने में नहीं है,
(जबकि भरकर मूल्य कोई चुकाता ही) ।
अमरता है
मृत्तिका के मृत कणों को
मृत्यु से उन्मुक्त कर
जीवित बनाने में ।

करो निज नाम सार्थक,
चाल दुनिया की न सीखो,
झुको, धरती को छुओ,
तह में घुसो, जड़-जाल फोड़ो ;
हो न संभव,
तो उसी में सड़ो,
केवल खाद ही जो बनो

तो भी स्वाद कुछ अमरत्व का
तुमको मिलेगा,
छू तुम्हें तृण कभी तो कोई उगेगा,
लता पनपेगी,
किसी को फूल देगी,
तरु लगेगा, फलेगा,
हारे, थके, भूखे, किसी को
छाँह देगा, राह का संबल बनेगा,
और तरु की पीढ़ियाँ कितनी जनेगा !

अक्षयबट

देश जब से हो गया आज़ाद,
और प्रवेश संगम के क़िले में
हो गया आसान,
मिस्टर काटजू हैरान हैं
यह जान,
अक्षयबट बताकर
आज तक जिसको पुजाया जा रहा था,
वह गुफा में एक रक्खा,
एक सूखा ठूँठ भर है !
और अंग्रेज़ी अमल में
गुफा का ठेका
बड़ी रक़में अदा कर
लिया करतें थे धनी, चालाक पंडे ।
किंतु अब देसी अमल में
यह नहीं है ठीक,
यह ठेका चलाया जाय,

जनता ठगी जाए।
(और इससे भी कहीं
धनचूस
औ' जनमूस
औ' मनहूस
ठूँठों को पुजाने के लिए
षड्यंत्र जो होने लगे हैं
उन्हें उनका क्या पता है !)

औ' उन्होंने
लेख, कागद-पत्र, दस्तावेज़,
मुग़लों के ज़माने के पुराने,
देख साबित कर दिया है,
वृक्ष अक्षयबट सनातन,
चिर पुरातन,
ज़िक्र जिसका
महाभारत में,
पुराणों में,
पुरानी पोथियों में,
जहाँगीरी हुक्म से काटा गया था,
और उसकी जड़ जला डाली गई थी।
औ' उन्होंने
जा-ब-जा करके खोदाई-खोज
पाया है कि काले कोयले से

एक अँखुआ उठा,
धरती की परत को
तोड़ता आगे बढ़ा,
ऊपर चढ़ा,
बाहर निकल पौधा बना,
फिर शानदार दरख़्त कद्दावर घना,
जो असल अक्षयबट नहीं तो
असल अक्षयबट-जना है ;
उस जगह है
जहाँ नीचे क़िले की दीवार में
पंकज खुदा है,
क्योंकि यह अनुमान उनका,
पेड़ जब काटा गया था
तब किसी मेमार हिंदू ने
निशानी के लिए
यह चिह्न, चोरी-छिपे, तक्षित कर दिया था ।
अब जिन्हें हो पूजना यह वृक्ष पूजें !

काटजू साहब,
क्षमा मुझको करेंगे,
यदि कहूँ मैं,
आप अकबर-पूत से नादान-भोले ।
बट
नहीं जो नष्ट होता प्रलय में भी,

वह अटल विश्वास है
जिसका सहारा सृष्टि के भी,
सृष्टिकर्ता के लिए भी है ज़रूरी ।
कौन रोपे, कौन काटे, कौन खोजे !
रूपकों के बोल समझेंगे नहीं तो
मुझे—मैंने चूँकि 'मधुशाला' रची है—
कभी खोजेंगे शहर की होलियों में ;
और सोचेंगे कभी मोरार जी
मेरे गले को घोंट देंगे ।

और जो कुछ ग़ौर करके देखिए,
प्रत्येक बट का वृक्ष अक्षयबट मिलेगा,
क्योंकि यह आकाश में उठता
मगर आकाश में खो नहीं जाता,
क्योंकि धरती से नहीं विश्वास यह अपना हटाता,
क्योंकि फिर-फिर मूल अपना
यह धरा में डालता है,
क्योंकि मिट्टी में बसी ऋत शक्ति को यह
जानता, पहचानता, सन्मानता है,
क्योंकि फिर-फिर हो पुरातन
पुनः-पुनः नवीन, नूतनप्राण होता ।
और कुछ भी अंध-जड़ विश्वास लेकर
लोग इसको पूजते हों,
इस अमर संस्कार से

रहते अछूते नहीं—निश्चय ;
इसलिए इतिहास के तूफ़ान में
वे रहे अक्षय,
क्योंकि मिट्टी से सटे चिपके हुए हैं !
बोलिए बटवृक्ष की जय !

चेतावनी

भारत की यह परंपरा है—
जब नारी के बालों को खींचा जाता है,
धर्मराज का सिंहासन डोला करता है,
क्रुद्ध भीम की भुजा फड़कती,
वज्रघोष मणिपुष्पक औ' सुघोष करते हैं,
गांडीव की प्रत्यंचा तड़पा करती है ;
कहने का तात्पर्य,
महाभारत होता है ;
अगर कभी झूठी ममता,
दुर्बलता, किंकर्तव्यमूढ़ता
व्यापा करती,
स्वयं कृष्ण भगवान प्रकट हो
असंदिग्ध औ' स्वतः सिद्ध
स्वर में कहते,
'युध्यस्व भारत ।'
भारत की यह परंपरा है—

जब नारी के बालों को खींचा जाता है,
एक महाभारत होता है ।

तूने भारत को केवल
रेखांश और अक्षांश जाल में
बद्ध चित्रपट समझ लिया है,
जिसकी कुछ शीर्षस्थ लकीरें,
जब तू चाहे, घटा-मिटाकर
अपने नक़्शे में दिखला ले ?

हथकड़ियाँ कड़कड़ा, बेड़ियों को तड़काकर,
अपने बल पर मुक्त, खड़ी
भारतमाता का
रूप विराट
मदांध, नहीं तूने देखा है ;
(नशा पुराना जल्द नहीं उतरा करता है ।)
और न अपने भौतिक दृग से देख सकेगा ।
आकर कवि से दिव्य दृष्टि ले ।
पूरब, पच्छिम, दक्षिण से आ
अगम जलंभर, उच्छल, फेनिल
हिंद महासागर की अगणित
हिल्लोलित, कल्लोलित लहरें
जिन्हें अहर्निश
प्रक्षालित करती रहती हैं,

अविरल,
वे भारतमाता के
पुण्य चरण हैं—
पग-नखाग्र कन्या कुमारिका-मंदिर शोभित ।
और
पूरबी घाट, पच्छिमी घाट
उसी के पीन, पुष्ट, दृढ़ जंघ-पाट हैं ।
विंध्य-मेखला कसी हुई है कटि प्रदेश में ।
वक्षस्थल पर गंगा-जमुनी हार झूलता—
कौसल-ब्रज की
दुग्ध-धार से
राम-कृष्ण-बल-वैभव सिंचित,
शिव-धनु खंडित,
रावण मर्दित,
इंद्र विनिंदित,
कंस विलुंठित—
व्यास कंठ में !
दक्षिणांक में
खड्ग और जौहर ज्वाला का
राजस्थानी महा मरुस्थल दीप्तिमान है ।
वाम बाहु आशीष और आरक्षण का
आश्वासन बनकर ब्रह्मपुत्र तक
फैल रहा है,

जिसके नीचे
लक्ष-लक्ष हल
गीतों की लय-गति पर चलकर
भू का अंचल
करते धानी, करते पीला ;
और देख वह
भाल दिव्य, हिम-शुभ्र, सजीला,
जिसके ऊपर कश्मीरी केशर क्यारी का
खौर लगा है ;
औ' हिंदूकुश और हिमालय की
जो सघन शिला-वल्लरियाँ
उत्तर-पच्छिम, उत्तर-पूरब
दूर-दूर तक
छछड़ीं, छिटकीं, बिखरीं, फैलीं,—
अमरनाथ—गौरीशंकर—कैलाश विचुंबित—
वे भारतमाता के कंधों पर अवलंबित
उसकी अलकें, नाग-लटें हैं, वेणी-चोटी,
जो कि हमारी जीवित संस्कृति परंपरा में
नारी के गौरव के
सबसे शीर्ष चिह्न हैं,
जिनकी लाज बचाने को,
इज़्ज़त रखने को,
मूल्य बड़ा से बड़ा

चुकाने को हम उद्यत ।
(फिर चालीस कोटि की माँ की
भव्य लटा की !)

तूने आज इन्हीं को छेड़ा है,
खींचा है,
किसी नशे में तू अपने से
बाहर चला गया है,
संयम इसीलिए हम
साध रहे हैं ।

तुझे नहीं मालूम कि तूने
कितना भीषण और भयावह
काम किया है !
फिर कहता हूँ,
भारत की यह परंपरा है—
जब नारी के बालों को छेड़ा जाता है,
धर्मराज का सिंहासन डोला करता है,
क्रुद्ध भीम के बाहु फड़कते,
वज्रनाद मणिपुष्पक औ' सुघोष करते हैं,
गांडीव की प्रत्यंचा कड़का करती है,
कहने का तात्पर्य,
महाभारत होता है ;
अगर कभी थोथी ममता,

दुर्बलता, किंकर्तव्यमूढ़ता
व्यापा करती,
स्वयं कृष्ण भगवान प्रकट हो
असंदिग्ध औ' स्वतः सिद्ध
वाणी में कहते,
'उत्तिष्ठ युध्यस्व भारत !'

मिट्टी का द्रोणाचार्य

कुछ नहीं
एकलव्य-द्रोणाचार्य की
उस करुण गाथा में
कि जिसको याद कर
अभिमान अपने पूर्वजों पर
कर सकूँ मैं ।

तीन वर्णों से बहिष्कृत
उस निषाद-सुपुत्र को
जब धनुर्विद्या-दान
देने से किया इन्कार
द्रोणाचार्य ने था,
कौन जीती थी बड़ाई ?
लीक ही पीटी नहीं थी ?
किंतु मिट्टी की
बना गुरु-मूर्ति उसने
धनुर्विद्या में
निपुणता प्राप्त की वह

देख जिसको
रह गए निःस्तब्ध पांडव,
चकित कौरव ।
गुरु महाशय
परम प्रिय निज
सव्यसाची शिष्य को भी
थे सिखा पाए न
वह कौशल कि जिससे
भूंकने को श्वान
मुँह खोले कि उसको
भर दिया जाए शरों से
इस तरह से, शब्द भर करने न पाए,
किंतु जाकर
हाथ की ऐसी सफ़ाई की गवाही
भरे अपने स्वामियों के सामने वह ।
और तब आचार्य-केहरि
ज्ञात शिष्यों को लिए
अज्ञात से मिलने गए थे,
और लौटे थे
लिए गुरु-दक्षिणा में
उस निषाद-कुमार का दायाँ अँगूठा,
जिसे गुरु-ऋण मान
गुरु के माँगने पर
मुसकराते-मुसकराते

वाम कर से काट उसने
गुरु-चरण में धर दिया था।

उस दिवस गुरु द्रोण
अपनी मृत्तिका की मूर्ति से
होकर पराजित ही फिरे थे,
क्योंकि वह एकलव्य को
वह दे सकी, सिखला सकी थी,
जो कि अर्जुन को न वे
सिखला सके थे, दे सके थे।
उस दिवस कुरु-पांडु-सुत
एकलव्य-श्रद्धा से पराजित
ही फिरे थे,
क्योंकि उसके बल
ग्रहण गुरु-मूर्ति से उसने किया जो,
वे न कर पाए
सजीव, सप्राण गुरु से !

द्रोण के बल-वीर्य-विक्रम की कथा से
हो महाभारत पटा, पर
खून से एकलव्य ने सब पर लिखा है—
द्रोण मेरा
द्रोण मिट्टी का
मगर इससे बड़ा था !

इंसान और कुत्ते

शहर की मैली-किचैली
और बदबूदार गलियों-बस्तियों से
दूर, सब से अलग,
चौड़ी, खुली सड़कें
सिविल लाइन कही जातीं ;
और इनपर बने बँगले,
अलग बिल्कुल दूसरे-से,
व्यक्तिगत स्वातंत्र्य-सत्ता के,
इकाई के किले हैं ;
और जो इनके निवासी,
आत्म-सीमित-संभरित, संकीर्ण,
अपने आप में ही बंद,
बुसती, विकृत
पच्छिम की मशीनी
सभ्यता के पूतले हैं ।
सात बजकर दस मिनट पर चाय पीते,

वक़्त छोटी हाज़िरी का आठ पचपन,
नौ छियालिस छोड़ते घर,
ठीक दस दफ्तर पहुँचते,
पाँच पैंतिस लौटते हैं ;—
घड़ी जो चाहे मिला ले—
चाय पीकर क्लब पहुँचते,
पेग चढ़ाते, खेलते ब्रिज,
लौटकर घर डिनर खाते
और सिरहाने अलार्म घड़ी लगाकर
लेट जाते, ठीक ग्यारह बजे,
मिनट न कम, न ज़्यादा ।
ये किसी से दोस्ती या दुश्मनी
रखते नहीं,
संपृक्त अपने से, विरक्त समस्त जग से ;
यदि पड़ौसी के यहाँ हो मौत-चोरी,
तो इन्हें लगता पता अखबार पढ़कर ;
हर्ष और विषाद औ' संवेदना के
भिक्षुकों को
ये फटकने ही नहीं देते हृदय की देहरी पर ;
बिना परिचय के किसी से बोलना-मिलना
महान असभ्यता है ;
शान के औ' मान के विपरीत भी है ।

छः महीने से बराबर देखता हूँ

इस तरह के दो नमूने
घूमने जाते सुबह को,
साथ जाते दुम हिलाते हुए कुत्ते,
क़ीमती, नस्ली, बताते
हैसियत भी मालिकों की ।
वाक़या यह है कि इनके लिए कुत्ते
दुर्निवार विभाव-स्रावों की निकासी
की सुपासी नालियाँ हैं ;
सेफ़्टी का वाल्व जिनको बोलते हैं ।
इन्हें दुलराने-मल्हाने से
किसी को प्यार करने की ज़रूरत
रफ़ा होती रहे,
बचते ये रहें अभिव्यक्तियों से
जिन्हें कहते व्यक्ति की कमज़ोरियाँ ये ।

एक आता है उधर से,
एक जाता है इधर से,
पास होकर निकल जाते
किंतु ऐसी ध्यान-मुद्रा हैं बनाते
कौन निकला पास से इनको पता क्या—
कांट, आइंस्टीन की भी
देखती-अनदेखती आँखें
अगर इनके दृगों को
देख लेतीं,

चपल अपने को बतातीं ।
ठोंक जूतों की ध्वनित-प्र'ध्वनित होती—
'तुम अगर शाहब,
नईं अम बी अशाहब !'
किंतु कुत्ते
दूर से ही देख कुत्ते को
उमंग-भरे उछलते-कूदते
आ पास जाते,
सूँघते हर अंग,
मुँह से मुँह मिलाते,
गंध-गति की
रहस भाषा में
प्रणाम-जुहार करते,
हाल कहते-पूछते,
घर में कुशल सब ?
बाल-बच्चे तो मज़े में ?
शाम खाना क्या मिला था ?
रात खटका तो नहीं ज़्यादा हुआ था ?
और झगड़ा तो नहीं कोई ठना था
बीच मालिक-मालकिन के ?
नौकरों के बीच खटपट तो नहीं थी ?
फिर झपटते हुए चक्कर काट
सहसा बैठ-उठकर

कभी ऊपर, कभी नीचे से
छलाँग, फलाँग,
तन को झाड़-झहरा,
व्यक्त करते हैं कि सब
आनंदमय प्रभु की दया है।
तब अचानक
दो दिशाओं से
कड़े, अधिकारसूचक, भर्त्सना के
शब्द आते,
'कम हियर यू डैम व्हिस्की !'
'कम हियर यू डेविल फ़िस्की !'
(श्वान भी तो मानता है
रोब अंग्रेज़ी ज़बाँ का।)
और व्हिस्की और फ़िस्की
सोचते, आश्चर्य करते,
'क्या किया हमने कि मालिक
यों बिगड़ते।'—
दुम दबाए मालिकों के साथ जाते—
फेरकर मुँह कभी पीछे देखते भी
बेबसी से।.
औ' नहीं इन बेहयाओं को अखरती,
श्वान की यह श्वानियत
इंसान की इंसानियत पर व्यंग्य करती !

ताजमहल

जाड़ों के दिन थे, दोनों बच्चे अमित, अजित
सरदी की छुट्टी में पहाड़ के कालेज से
घर आए थे, जी में आया, सब मोटर से
आगरे चलें, देखें शोभामय ताजमहल
जिसकी प्रसिद्धि सारी जगती में फैली है,
जिससे आकर्षित होकर आया करते हैं
दर्शक दुनिया के हर हिस्से, हर कोने से ;
आगरा और दिल्ली के बीच सड़क पक्की ;
दफ्तर के कोल्हू पर चक्कर देते-देते
जी ऊबा है, दिल बहलेगा, पिकनिक होगी ।
तड़के चलकर हम आठ बजे मथुरा पहुँचे ;
मैंने बच्चों से कहा, यही वह मथुरा है
जो जन्मभूमि है कृष्णचंद्र आनंदकंद
की, जिसके पेड़े हैं प्रसिद्ध भारत भर में !'
बच्चे बोले, 'हम जन्मभूमि देखेंगे, पेड़े खाएँगे ।'

हम इधर-उधर हो केशव टीले पर पहुँचे,

जिसको दे पीठ खड़ी थी मसजिद एक बड़ी ;
टीले की मिट्टी हटा दी गई थी कुछ-कुछ
जिससे अतीत के भव्य, पुरातन मंदिर का
भग्नावशेष अपनी पथराई आँखों से
अन्यायों-अत्याचारों की कटु कथा-व्यथा
बतलाता था ; अंकित था एक निकट पट पर—
छः बार हिंदुओं ने यह मंदिर खड़ा किया,
छः बार मुसल्मानों ने इसको तोड़ दिया ;
औरंगज़ेब ने अंतिम बार ढहा करके
मसजिद चुनवा दी उस मंदिर के मलवे से—
कुछ भग्न मूर्तियों की ढेरी थी पास पड़ी,
जो खोज-खुदाई में टीले से निकली थीं।
सहसा मेरी आँखों के आगे नाच गए
पटना, काशी के और अयोध्या के मंदिर—
कुछ अर्धभग्न पिछली करतूतों के साखी,
कुछ कुगढ़ मसजिदों-मीनारों में परिवर्तित।
निर्माण माँगता है मौलिक उद्भाव-स्वप्न ;
वह तोड़-जोड़ करने से सिद्ध नहीं होता।
मानवता कितने ग़लत पथों से जाती है !
बीती सदियों की भूलों के टीले, गड्ढे
क्या नहीं बचाए याकि भरे जा सकते थे ?—
पछताने से इतिहास नहीं बदला करता।
टीले की मिट्टी पर मैंने मत्था टेका,
कुछ क्रोध, क्षोभ, पछताव लिए आगरा चला।

मेरी पत्नी ने एक विखंडित मूर्ति उठा
मोटर में रख ली ; अपने टूटेपन में भी
वह कितनी सुंदर थी, कितने कटु-कोमल भाव जगाती थी !

दो घंटे के पश्चात खड़े थे हम चारों
टकटकी बाँधकर ताजमहल के फाटक पर,
फाटक था या चौखटा कि जिसमें ताजमहल
का चित्र किसी ने कौशल से बिठलाया था—
कुछ सत्य कि जो हो स्वप्न हटा-सा जाता था,
कुछ स्वप्न कि जो हो सत्य निकटतर आता था,
कुछ अंबर का धरती को पाँव छुलाता-सा,
कुछ धरती का अंबर को हाथ उठाता-सा,
नभ-गंगा से जैसे अंजलि भर जल छलका,
जैसे कर्दम से जन्म हुआ है उत्पल का ;
आ कहाँ-कहाँ से भ्रमर यहाँ मँडराते हैं !
मुमताज़महल औ' शाहजहाँ की प्रणय-सुरभि
से वातावरण यहाँ का भीना-भीना है ;
जो आता है उसका तन-मन बस जाता है ।
वह उलटे-उलटे मध्ययुगी इतिहास बहुत,
इस पन्ने पर से दृष्टि हटा कब पाता है,
जिसपर चित्रित है ताजमहल, जिसपर अब तक
कोई धब्बा, कोई कलंक लग नहीं सका ।
इस मंदिर में की गई प्रतिष्ठित वह प्रतिमा
जिसपर न्यौछावर हर मानव-अंतर होता,

इसके विरुद्ध हथियार उठाने का साहस
मानव तो क्या, शायद न समय भी कर पाए !
ओ शाहजहाँ, तूने उस जीवित काया को
कितना दुलराया, कितना सन्माना होगा,
जिसकी मुर्दा मिट्टी का यों शृंगार किया—
कल्पना - मृदुल, भावना - धवल पाषाणों से !
सज गई धरा, सज गया गगन का यह कोना
जमुना के तट पर अटक गया बहते-बहते
जैसे कोई टटके, उजले पूजा के फूलों का दोना !

केशव टीले पर मैंने जो कुछ देखा था
उसने मुझमें कुछ क्रोध-क्षोभ उकसाया था,
इस सुधि-समाधि ने मुझको ऐसा सहलाया,
मैं शांत हुआ, मुझमें उदारता जाग पड़ी,
हर टूटे मंदिर का खंडहर ही बोल उठा
जैसे मेरे स्वर में, मन का आमर्ष हटा,
'औ ताजमहल के निर्माता, हठधर्मी से
तेरे अग्रज-अनुजों ने जो अपराध किए,
उन सबको, मैंने तुझको देखा, माफ़ किया !'
जब हम लौटे, टीले की खंडित प्रतिमा से
सारी कटुता थी निकल गई, वह पहले से
अब ज़्यादा सुंदर, कोमल थी, मनमोहक थी !

विकृत मूर्तियाँ

सोचता मैं यह
बहुत दिन से रहा हूँ,
मूर्तियों के भाग्य में ही
टूटना या उपेक्षित होना लिखा है ।
मूर्ति में सिद्धांत ही तो
निहित, सीमित, मूर्त होते
और जब सिद्धांत से सिद्धांत लड़ते
या बदलते,
मूर्तियाँ विध्वस्त
या बेकार होतीं ।

बौद्धों ने हिंदुओं की
मूर्तियाँ तोड़ी, गड़ा दीं,
या कि नदियों, कुओं, तालों में डुबा दीं ;
आज भी वे प्रकट होतीं
और दैवी चमत्कार प्रसिद्धि पाता,
सिद्ध होता ।

(मूर्ति बदरीनाथ की भी
अलखनंदा में मिली थी ।)

हिंदुओं ने बौद्धों की
मूर्तियाँ तोड़ी, गड़ा दीं, या फेंका दीं–
सुना, रीवा में मिली हैं
बुद्ध प्रतिमाएँ कि जिनकी
छातियों पर कोल-घसियारे
रगड़कर तेज़ अपनी खुरपियाँ करते रहे हैं ।
(कभी जाकर संग्रहालय देख लेना ।)
खुरपियों को तेज़ करने के लिए
इतना सुगढ़, हमवार,
इतना ठोस और कठोर पत्थर कहाँ मिलता ?
(बुद्ध की छाती,
तुझे मालूम होना चाहिए था,
ज़िंदगी के वास्ते निर्वाण ही काफ़ी नहीं है,
घास भी वह माँगती है ।)

और फिर तलवार हाथों में लिए
इस्लाम आया—
शांति, सुलह, सलामती का धर्म ।
योरुप को फ़िज़ूल मुग़ालता है
शांति-रक्षा के लिए संग्राम करना
आधुनिक ईजाद उसकी !

शांति से भी रण कराने में
सफल होना,
चढ़ाना लाम पर इस्लाम को भी
वह सियासी जीत है
जिसपर बधाई
राजनीति-प्रवीण देंगे
गज़नवी, ग़ोरी तथा उनके ग़ुलामों, वंशजों को।
(युद्ध में, औ' प्रेम में
औ' राजनीतिक मामलों में
जो करो सब ठीक ही है।)
ख़ैर, औरों के भुलावे में सही या ग़लत
आकर के उन्होंने
ज़ोरे-खंजर
आज़माया मूर्तियों पर,
और जाकर
ज़ेरे-खंजर भी सुनाया
वहदियत, इस्लाम का
पैग़ाम सबको।
हम कहें कुछ,
एक था आदर्श उनके पास
जिससे 'बुतशिकन' कहला,
रहे वे गर्व करते,
बुत-फ़रोशी पर न उतरे।
और है यह बात,

अपनी शायरी में बुतपरस्त बने रहे वे ।

वक़्त बदला
जोश ठंडा कुछ पड़ा,
कुछ भूल समझे,
कुछ विचार-सहिष्णुता के भाव जागे,
मूर्तियों ने अभय का वरदान पाया ।
किंतु कितने समय को ?

अब नया फ़ैशन चल गया है,
भग्न-खंडित मूर्तियों से
लोग ड्राइंगरूम अपना हैं सजाते,
कला-प्रियता सभ्यता का अंग है अब,
इस तरह अपनी कला-प्रियता जनाते,
क़ीमतें अच्छी चुकाते,
बुत-फ़रोशी एक पेशा बन गया है ।
लोग चोरी-छिपे जाकर
मूर्तियों के हाथ या सिर काट लाते,
और ड्राइंगरूम वाले ग्राहकों को बेच देते ।
अब पुरानी मूर्तियों की क़द्र
बढ़ती जा रही है,
मूर्ति के सिद्धांत को अब
पूछता या पूजता कोई नहीं है,

अब कला की पूछ होती,
औ' कला के वास्ते भी
मूर्तियों का गला कटता,
मूर्तियाँ की विकृत जातीं ।

दीपक, पतिंगे और कौए

प्रात,
निर्मल वात,
निद्रा तोड़ती-सी
प्रकृति की अँगड़ाइयों में,
फूल-पत्तों की बड़ी भीनी महक में,
वृक्ष-नीड़ों की प्रभाती हरकतों में,
सरसराहट में, चहक में,
एक ज्योतिस्तंभ के नीचे
अचानक उतर नभ से
चपल, काले पंखवाले
कई कौए
हो इकट्ठे, हैं उचकते,
कर्ण-कर्कश कंठ से
हैं शोर करते,
नोकवाली कड़ी चोंचों से
धरा ठकठोरते हैं ;
इधर गर्दन, उधर गर्दन

मोड़ते हैं ;
खा रहे हैं कुछ
सशंक, सतर्कता से,
ढीठ खासे ।

रात की
सूनी, भयानी कालिमा में
अडिग, तनकर खड़ी, ऊँची
लाट पर दीपक जला था ;
ज्योति फैली थी ;
किरण ने मृतिका के कण
छुए थे,
और कितने
दीप्त कंचन-से हुए थे ।
भूमितल पर, पेट के बल
रेंगनेवाले न जाने
कीट कितने
कल्पनामय
पर उगाकर,
नाम परवाना रखाकर,
बहुत नीचे से
बहुत ऊपर उठे थे ।
औ' शमा की
बेशुमार परिक्रमाएँ

रात भर करते रहे थे ।
प्यार के,
उपहार के,
मनुहार के,
अभिसार के,
बलिदान के वादे हुए थे ;
'लौ जगाए तू खड़ी है,
लौ लगाए घूमते हम ।'
'हम अकिंचन हैं,
स्वयं उपहार हम तेरे लिए हैं ।'
'द्वार तेरा छोड़कर जाएँ कहाँ हम ।'
'ज्वाल से मिल, ज्वाल जो बन जाय
दीवाना वही है ।'
'हो इशारा,
औ' नरक की आग में हम कूद जाएँ ।'

प्रेम के, सौंदर्य के, उत्सर्ग के उस विश्व में
फिर क्या हुआ था,
कौन जाने ।
इस समय तो बुझ गया है दीप,
दिन होने लगा है,
औ' किसी को भी नहीं
उसका अभाव खटक रहा है ।
लाट के नीचे

बड़ी तादाद में
लाशें पड़ी हैं
रात के बलिपंथियों की,
ज्योति के अनुरागियों की,
प्रेम के बलिदानियों की,
जो कि अपनी श्वास
अर्पित इष्ट को कर
मांस पंछी को परोसे ।

यज्ञ कोई हो चुका है,
पुण्य स्वर्ग सँजो चुका है,
यज्ञकर्ता और होता और द्रष्टा
जा चुके हैं ;
कुछ पड़ा, छूटा हुआ
उच्छिष्ट खाने के लिए
कौए अधर से टूटते हैं
और काँ···काँ···शोर करते,
हैं उचकते, हैं मटकते ।
औ' सुबह की सैर को निकला हुआ मैं
सोचता हूँ,
क्या पतिंगे, दीप, कौओं की कहानी
मानवी संसार दुहराता नहीं है !

सड़ा हुआ कमल

जलज, अब तू सड़ रहा है ;
और यह कटु, करुण, अप्रिय सत्य
मुझको आज कहना पड़ रहा है,
कमल, जब तू सड़ रहा है !

तू सरोवर की सतह पर
एक चूल्हा पोतने के पोतने-सा
रूप - संज्ञा - रंग - प्रतिहत,
प्राणगत शव की तरह
उतरा रहा है,
बजबजाता ;
जलज, अब तू सड़ रहा है ;
और यह दुर्गंध तेरी
सही जाती नहीं मुझसे !
सत्य है यह,
कमल सड़ता जब
सेवार, कुचील काई, कीच से भी

अधिक बदबूदार होता ।
बिलबिलाते कीट तेरी लोथ को
अब खा रहे हैं,
और उनको, पीठ पर तेरी चढ़े
लघुकाय दादुर !

झलक जाता है
दृगों के सामने
वह स्वर्ण-पुण्य प्रभात
जिसमें भेद कर्दम,
छेद जल-तृण जाल-माला,
नीर तल को चीर
तूने सिर उठाया था,
खिला तू, जगमगाया था ।
और तेरे मर्म से जो गंध निकली थी
नियंत्रण वह बनी थी
पास-दूर निवासिनी भ्रमरावली को ;
उस दिवस जयगान गुंजित जो हुआ था
आज भी उसकी प्रतिध्वनि से
दिशाएँ थरथरातीं,
और सुधियाँ सिहर जातीं ।

मैं प्रकृति के जड़ नियम की आड़ ले
संतोष अपने को नहीं दे पा रहा हूँ—

जन्म, वर्द्धन, जर्जरण,
फिर मरण निश्चित।
प्रकृति के जड़ बंधनों से मुक्त भी
कुछ है कि जो
झुकता नहीं,
खंडित न होता,
औ' धराशायी न बनता
वृंत जिसपर तू चढ़ा
अब भी खड़ा है।
सत्य की भी रीढ़ क्या झुकती कभी है ?
अहिंसा भी यष्टि पर चलती कभी क्या ?
त्याग की भी पीठ बोझों टूटती है ?
और बलि को भी निगलता काल का मुख ?
मोतियों का भक्ष्य तो भूखे मरालों के लिए है,
सरसिजों के कोष का संतोष-धन है सुरभि केवल।
मोतियों को तू सँजोने को झुका था,
तभी आसन से डिगा था,
लड़खड़ाया,
वृंत से विच्छिन्न,
पुण्य क्षीण,
पानी में गिरा था।
और अब तू सड़ रहा है,
और यह कटु, करुण, अप्रिय सत्य
मुझको आज कहना पड़ रहा है !

वह भी देखा : यह भी देखा

गांधी : अन्याय-अत्याचार का दासत्व सहती
मूर्च्छिता-मृत जाति की
जड़ शून्यता में
कड़कड़ाती बिजलियों की
प्रबल आँधी :
ज्योति-जीवन-जागरण घन का
तुमुल उल्लास !

गांधी : स्वार्थपरता, क्षुद्रता, संकीर्णता की
संप्रदायी आँधियों में,
डोलती, डिगती, उखड़ती,
ध्वस्त होती, अस्त होती,
आस्थाओं, मान्यताओं में,
अटल आदर्श की चट्टान पर
जगती हुई लौ का
करुण उच्छ्वास !

गांधी : बुत पत्थरों का, मूक,
मिट्टी का खिलौना,
रँग-बिरंगा चित्र,
छुट्टी का दिवस,
देशांतरों में पुस्तकालय को
समर्पित किए जाने के लिए
सरकार द्वारा,
आर्ट पेपर पर, प्रकाशित
राष्ट्र का इतिहास !

१९६० की दीवाली

दीवाली के दिए जलाकर,
नक़ली बम, तोपों, बंदूकों को धड़काकर,
दुनिया को, मुझको, अपने को
धोखा मत दो।
अंधकार, घन अंधकार है,
पथ दुर्गम है,
खाई, खंदक हैं, पहाड़ हैं,
चोर, छिछोर, उठाईगीर, उचक्के,
फ़ितनेसाज़ आज
दल-बल-सक्रिय हैं, सुसंगठित हैं।
आँखों पर परदा मत डालो!

मैं धरती के घायल सपनों,
चोट-सही आशा, प्रत्याशा की
पुकार हूँ,
तुम मुझको त्योहारों के
गायन-वादन से,

भजन-कीर्तन से,
थोथी जय-जयकारों से,
यंत्र-कंठ आकाश-भारती के
प्रचारवादी नादों से, आलापों से,
दबा सकोगे ?
होश सँभालो !

अंधकार अब भी प्रकाश से
डरा हुआ है ।
एक दीप अब भी
आँधी-अंधड़ से, अंधेरों से लड़ता
आगे बढ़ता ।
रिक्त, शुष्क, दमहारे, पीछे लगे निर्भरो !
उसपर ज़्यादा ज़ोर न डालो,
अभी समय है,
अंतर्बल से स्नेह-स्रवित हो,
इस निर्भय, निष्कंप शिखा से
अपने-अपने दीप जला लो !

गणतंत्र दिवस

सूझती मुझको शरारत भी कभी है।
राजधानी में मनाया जा रहा गणतंत्र का दिन,
मुँह अँधेरे से बड़ी हलचल मची है,
मर्द-औरत और बच्चों की रँगीली भीड़ से
सड़कें सजग हैं, मुखर हैं
संसार भर की बोलियों से, मोटरों के
हार्न से, नूतन-पुरानी विविधरूपा, विविधरंगी।
राष्ट्रपति की चार घोड़ों की सवारी,
बैंड, तोपों की सलामी,
फौज - फाटे का प्रदर्शन,
जेट विमानों की उड़ानें,
लाख गुब्बारे गगन में,
शोर-गुल, हर तरफ़ हरकत, और पिकनिक !
दिवस छुट्टी का गया बढ़ता कि सहसा
शाम आई और बिजली के
अगिनती लट्टुओं से नई दिल्ली जगमगाई।
रोशनी-रंगीनियों को देखने को

शहरियों का सिंधु उमड़ा।
और मुझको रोककर पूछा किसी ने,
इस महोत्सव की लहर कोई
निकटतम ग्राम—गण के ग्राम—तक भी पहुंच पाई ?—
सूझती मुझको शरारत भी कभी है।

कार ले ली और मथुरा रोड पकड़ी ;
बीस मील निकल गया तो
दाहिने को गाँव दीखा ;
रुका, पैदल गाँव के अंदर घुसा मैं।
भूंकने कुत्ते लगे चारों तरफ़ से ;
घर अँधेरे से घिरे,
छोटे घिरौंदों-से, गिरे, अधगिरे, टूटे,
गली बदबू-भरी, सँकरी, नाबराबर—
टार्च लाना चाहिए था—
बैल की गल-घंटियों की 'टिनिन' जब-तब
और कुत्तों की निरंतर भूंक के अतिरिक्त
जीवन के मुखर आसार सारे
सांझ से ही मूक होकर सो गए हैं।
घूर का भी भाग
बारह बरस पर है बदल जाता।
यहाँ बारह बरस में कुछ भी न बदला।
और कितनी बार बारह बरस गुज़रा है यहाँ से !
एक दरवाज़ा ज़रा-सा खुला

जिससे रोशनी की एक रेखा
निकल तिरछी द्वार के आगे खिंची है
मंद होती, तेज़ होती, हाँफती-सी, काँपती-सी,
और भीतर एक धुन की लीक पर
कोई थका स्वर चल रहा है,
कभी रुकता-अटपटाता।
थपथपा, झुक बहुत, अंदर गया—
बैठा बोरिए पर एक बूढ़ा, झुका,
रामायण सुनाता जा रहा था
और चार अधेड़ उकड़ू बैठ
कुछ-कुछ ऊँघते-से सुन रहे थे।
(हाय, तुलसीदास जो इस देश में
जन्मे न होते,
कौन दुर्दिन-दैन्य-आहत जाति पर
मरहम लगाता !)

अचानक मेरे पहुँचने का अचंभा
अभी उनकी सूरतों से हट न पाया था
कि मैं व्याख्यान देने लग पड़ा था,
'भाइयो, क्या तुम नहीं यह जानते हो
आज है गणतंत्र का दिन
जिसे बारह साल से दिल्ली मनाती ?
यह दिवस गणतंत्र का, यानी तुम्हारा ;
क्योंकि जनगण देश के तुम,

क्योंकि तुमको, क्योंकि सम्मति को तुम्हारी,
देश पर अधिकार आज दिया गया था।
और कैसे हो कि उससे बेख़बर तुम ?
आज तुमको चाहिए ख़ुशियाँ मनाओ,
जिस तरह दिल्ली मनाती।'
वे न मेरी बात समझे
'गण' बला क्या,
और क्या 'गणतंत्र' क्या 'अधिकार,' 'सम्मति'।
एक हिम्मत बाँध बोला,
'खेतिहर हम, अपढ़,
धरती जोतकर दाना उगाते,
कर्ज़ पुरखों का चुकाते, नया करते,
ज़िंदगी अपनी बिताते,
और बाबा की बदौलत
राम जी की कथा सुन लेते कभी हैं।'
कहा मैंने, 'साथ मोटर, चलो दिल्ली,
और अपनी आँख से देखो
कि इस गणतंत्र दिन की
क्या महत्त्व,
क्या ख़ुशी, क्या शान-शौक़त !'

हो लिए वे साथ,
मैं मोटर चलाता जा रहा था,
सोचता था :

आज चार हज़ार
साढ़े तीन सौ से तीस ऊपर
दिवस बीते रेंगते
संदेश, पर, गणतंत्र दिन का
बीस मील नहीं गया है !
देश यह कितना बड़ा है !
आज दिल्ली देख लक-दक
आँख कुछ इनकी खुलेगी,
असंतोष कहीं जगेगा,
कहीं चिन्गारी उठेगी,
जो सजी बारात
उसका कौन दूल्हा ?—
राज़ यह
इनपर खुलेगा ।

रोशनी उनको दिखाता रहा घंटों
देखता भी जा रहा था उन्हें,
उनपर प्रतिक्रिया क्या हो रही है !
स्वप्न में जैसे परी के
देश में वे खो गए थे—
देह विजड़ित,
आँख ठिठकी, चौंधियाई,
बंद बोली ।

लौटने को जब मुड़ा मैं
चौंककर 'राजा जवाहरलाल की जय !'
बोल फिर चुप हो गए वे ।
गाँव पहुँचा, वृद्ध बोला,
'बड़ी किरपा की कि जीते जी
हमें बैकुंठ का दर्सण कराया
हमें नरक-निवासियों को !'
और इसमें
व्यंग तीखा था
कि बोदी सादगी थी,
मैं समझ इसको न पाया !

खजूर

एक नेता ने चलाया
एक नूतन आंदोलन
बहुत से व्याख्यान देकर,
बहुत से वक्तव्य देकर,
बहुत से अखबार, पत्रों, पत्रकों में
तर्क-सम्मत लेख लिखकर—
सब मनाओ वन-महोत्सव,
वन लगाओ, पेड़ रोपो !
और नेता के प्रशंसक, पोषकों ने
(सत्य तो यह है कि नेता-शोषकों ने)
घूम से उसको बुलाकर
भूमि खोदवाई
रजत के फावड़े से,
वृक्ष लगवाए,
खिचाए चित्र संभव सभी कोणों से,
प्रचारित भी किए,
औ' फावड़ा शोभित हुआ

नेता महोदय के सजे दर्शक-भवन में ।
क़ायदा ही है कि बड़-भैये करें जो
ठीक छुट-भैये उसी की लीक पीटें,
और संयोजित हुए ऐसे बहुत से वन-महोत्सव !

कई वर्षों बाद
मैं जाता जिधर हूँ
देखता हूँ कुछ खजूर तने खड़े हैं ।
आम, पीपल, नीम, जामुन, बट वग़ैरह
ये लगाए गए लेकिन,
भूमि आज खजूर-धर्मी हो गई है,
कहीं कुछ बीजो, लगाओ—
बहुत कुछ बीजा, लगाया जा रहा है—
समय पाकर वह
प्रलंब खजूर में ही बदल जाता
भूमि भूला, गगन से नाता बनाता ।
और इसकी क्षीण छाया
औ' पहुँच से दूर फल पर
संत कोई कह चुका है,
मैं कहूँ क्या ?
आज भी आकाश से गिरता बहुत है,
किंतु धरती पर पहुँच पाता कहाँ है ?
यह प्रलंबासुर
अदृश्य भुजा उठाकर

बीच में ही लोक लेता,
लोक अपने स्वत्व से
वंचित, बुभुक्षित,
हाथ वामन के गगन में मारता
पर कुछ न उसके हाथ आता।

और इस अंधेर पर, इस दुर्दशा पर
देश, युग, इतिहास, नीति-प्रबुद्ध ज्ञानी
सिर हिला संकेत करते,
यह प्रलंबासुर मरेगा
जब कि शक्ति समेत हलधर जन्म लेंगे।
किंतु यह अवतार-निर्भर, आत्म-निर्बल
जाति करती प्रार्थना बस—
दुख हरो,
करुणा करो,
फिर अवतरो, बलराम !
ऐसे दैत्य का संहार करना
है तुम्हारा काम !

सहागर्दभ

एक मूली, दो टमाटर
और थोड़ा साग-सोआ
कल्पना की एक डोरी से बँधे थे
एक लंबे बाँस में
जिसको कि अपने हाथ में ले,
सामने लटका जतन से
गर्दभारोही चला था
वक़्त के अनजान, अंत-विहीन पथ पर।

और उसको देखता
उम्मीद, लालच की नज़र से,
होठ लपकाता,
बढ़ाता हुआ गर्दन,
खींचता सब अंग आगे,
साथ अपनी पीठ पर के भार को भी,
यह गधा चलता रहा है।

काल बदला,
राह बदली,
गर्दभारोही बदलते आ रहे हैं,
पर गधा बदला नहीं है
औ' न बदले बाँस, डोरी और लंगर ;
हाथ भर केवल बदलकर
वे सनातन रीति से देते प्रलोभन,
प्रोत्साहन सामने हैं ।

आप कुछ समझे,
गधा है कौन ?
कानों को खड़ा मत कीजिएगा ;
चोर खुजलाते हुए दाढ़ी सदा पकड़ा गया है ।
हां, मुझे है याद पहला गर्दभारोही पुरातन,
श्वेत दाढ़ी-मूँछवाला, जटाधारी,
देह पर मृगचर्म बाँधे,
और उसके वाक्य की भी
स्मृति बनी है,
"वत्स, जिसको तू टमाटर और मूली
समझता है, वह टमाटर और मूली
ही नहीं है,
वह विशिष्ट पदार्थ है,
दुर्लभ, अलौकिक !
किंतु अपने पशु-दृगों से

तुझे दिखलाई न देगा ।
दिव्य चक्षु प्रदान करता ।
देख अपने सामने अब—
स्वर्ग का आराम—नंदन,
कल्प-तरु की छाँह शीतल,
अमृत की सरसी मनोरम,
गीतमय गंधर्व-किन्नर,
नृत्य-माती अप्सराएँ,
जो कि मुनि-मन डगमगाएँ;
बोल, सुनता-देखता है न सब ?
टिक-टिक ! ……"

और गर्दभराज अपनी रेंक से
गिरि-बन-पठार अनेक ध्वनितप्रतिध्वनित कर
दौड़ते, चलते, रहे बढ़ते बराबर,
पर न लंगर पास आया ।

और आया गर्दभारोही
बहुत दिन बाद चिकने,
बेल-मुंडित, शीशवाला,
पीतवसनी, भिक्षुवेषी,
और उसने स्वप्न-लुब्ध, अबुद्ध
वाहन की प्रबोधा,
"सुनो भंते, जिस टमाटर और मूली को

समझते तुम रहे नंदन सुहावन,
और ही कुछ ;
नाम है निर्वाण इसका,
सब दुखों से त्राण इसमें,
सूक्ष्मता इसके गुणों की
किंतु अपने पशु-दृगों से
तुम्हें दिखलाई न देगी,
अतः सम्यक दृष्टि तुमको दे रहा हूँ,
सामने देखो,
यही निर्वाण पद परमोच्च
जिसके हेतु
साढ़े पाँच सौ में तीन कम
जन्मांतरों की सीढ़ियाँ
चढ़ते-उतरते रहे
कहलाते यथा गत
तथा आगत ।
लक्ष्य इसको ही बनाकर
चलो, आगे बढ़ो,
उतरो-चढ़ो ! टिक-टिक !…"

और गर्दभराज कर गच्छामि-नादित
कंदराएँ, पर्वतों को, घाटियों को
पार करते रहे सदियों,
पर न लंगर पास आया ।

और आया गर्दभारोही
बहुत दिन बाद लादे
देह पर लबा लबादा,
शीश ढाँपे टाकरों से,
और उसने शून्य में खोए,
बिगोए सूक्ष्मता से,
पाप-लादी भारवाही से कहा,
"नादान बेटे, जिस टमाटर और मूली को
समझते तुम रहे निर्वाण,
वह कुछ दूसरा है ;
इसे लोग सलीब कहते,
जीव मात्र शरण इसीकी चाहते हैं,
किंतु इसपर जो क्षमा
बलिदान औ' आह्वान अंकित
उसे अपने पशु-दृगों से
देख तुम सकते नहीं हो ।
कल्पना की दृष्टि तुमको दे रहा हूँ ।
सामने देखो !—
दो टमाटर बीच मूली ही
प्रतीक सलीब की है,
साग-सोआ ताज काँटे का,
जिसे निज शीश पर धर,
पाप सबका आप में भर,
महा प्रभु ईसा शहीद कभी हुए थे,

आज भी इसपर टँगे वे
आसमानी बाप के घर का निमंत्रण
प्राणियों को दे रहे हैं !
कान तो हैं बड़े,
पड़ता है सुनाई ?
बढ़ो, जल्दी बढ़ो ! टिक-टिक !…"

और गर्दभराज निज गल-घंट से
शब्दायमाना कर दिशाएँ
देश-देशों में फिरे संवत्सरों तक,
पर न लंगर पास आया ।

और आया गर्दभारोही
बहुत दिन बाद एक अजान,
जो खुर-यान की इस बान को पहचानता था,
लोभ से चलता,
मगर सरपट लगाता ख़ौफ़ से ही ।
प्रथम चाबुक की सहम-सटकार
चारों तरफ़ करके कहा उसने,
"बुते काफ़िर ! तू टमाटर और मूली-
साग जिसको समझता है,
चीज़ मामूली नहीं है ;
सामने है
एक आईना कि जिसमें

आतिशे-दोज़ख़ दिखाती
अक्स अपना, जो कि तेरे
पूँछ-पीछे दहदहाती—
टमाटर-सी लाल लपटें,
साग-सोए-सा धुआँ है,
और पिछुआती तुझे वह आग आती,
भाग अपनी जान लेकर !"

औ' सटासट चला चाबुक,
औ' फटाफट कान करते हुए
गर्दभराज अपनी पूँछ टाँगों में दबोचे
रेत के मैदान पर मैदान टपते गए
कितनी हिजरियों तक ।
खैरियत यह हुई शीशा
पड़ गया धुँधला बहुत-सी गर्द खाकर ।

और आया गर्दभारोही
बहुत दिन बाद
पच्छिम की दिशा से
श्वेतवर्णी, सूटशरणी, बूटचरणी,
घूँट व्हिस्की पी,
चुरुट को ठूँस मुँह में,
कहा उसने काँपते औ' हाँफते उस
जानवर को थपथपा,

"बल, जान ! तुमने जिस टमाटर
और मूली को समझ शीशा लिया था,
वह महज़ शीशा नहीं,
दूरबीन है वह !
ग़ौर से देखो, समुंदर में जज़ीरा,
जो कि लहरों पर हुकूमत कर रहा है,
यह हमारा 'होम' यानी घर हमारा—
टेम्स दरिया, जेम्स मधुवन, शहर लंदन,
जहाँ पार्लामेंट हाउस,
जहाँ बिग बेन टन्न-टन-टिन-टुन्न करती,
वेस्ट मिंस्टर एबी, गिरजा पाल का है,
जहाँ रौनक़ आजकल कम हो गई है,
और हाइड पार्क जिसमें वासना निर्द्वंद फिरती !
मर्द हैं गोया फ़रिश्ते,
औरतें जैसे कि हूरें,
सिर्फ़ उनके पर नहीं हैं,
इन्हें 'लेडो' और 'जन्टिलमैन' कहते !
और आज़ादी वहाँ है
सब तरह की,
सब किसी को।
बज़रिये बिजली बढ़ाते लोग ताक़त,
बज़रिये व्यापार धन-दौलत बढ़ाते,
राज़-नीति नहीं कभी अपनी बताते,
'गाड सेव दि किंग' गाते।

'होम' का हर गीत अच्छा,
'होम' की सब रीति अच्छी,
चीज़ अच्छी, बात अच्छी, चीत अच्छी !
'होम' पर रखकर नज़र को
तुम अगर चलते चलो तो
वहाँ पहुँचोगे किसी दिन ।
मगर अंग्रेज़ी तुम्हें पढ़नी पड़ेगी ।
आज से चीपों न करके 'ब्रे' करो तुम,
अगर करनी प्रार्थना है 'प्रे' करो तुम,
मैं पढ़ा दूँगा बहुत कुछ रास्ते में ।"

और गर्दभराज इंगलिस्तान के
सपने सँजोते, दौड़ने को भूल
'रन' करते रहे दो सौ बरस तक,
पर न लंगर पास आया ।

और आया गर्दभारोही नया फिर,
खुरदुरा खद्दर पहनकर,
और बोला, "बंधु, हम-तुम एक ही हैं ।
सुनो, तुमको दे रहा धोखा विदेशी ।
अगर धोखा भी तुम्हें खाना पड़े तो
चाहिए खाना विदेशी छोड़कर, खाना स्वदेशी ।
जिस टमाटर और मूली-साग को तुम
दूरबीन रहे समझते,

दूर की ही बीन है वह—
दूर की ढोलक सुहानी !—
पासबीन उसे बनाओ,
और देखो,
पास आज़ादी तुम्हारी ।
आ ! ···जा !! ···दी !!!
जहाँ चारों ओर खाना,
जहाँ चारों ओर खादी,
जहाँ चारों ओर गादी,
जहाँ चारों ओर चाँदी
जहाँ चारों ओर शादी !—
चलो, टिक - टिक !—
बढ़ो, टिक - टिक !—
लो लपक कर !"—

और गर्दभराज अपनी लार
टपकाते हुए झपटा किए, रपटा किए
बरसों निरंतर ।
एक दिन क्या देखते हैं
लापता मूली-टमाटर हो गए हैं,
किंतु रह-रह रासभारोही डकारें ले रहा है, टापते खुद रह गए हैं।

अब गधे की पीठ के ऊपर
सवारी गाँठकर चलना अगर है

तो प्रलोभन-प्रेरणा कुछ चाहिए ही ।

छोड़कर औलाद आरोही गया जो
बाप से कुछ कम नहीं है,
और उसने
छाप करके योजना, अभियोजना, उपयोजना,
परियोजना, प्रायोजना, संयोजना,
अखबार का भारी पुलिंदा
सामने लटका दिया है ।

और गर्दभराज बेचारे हमारे
निराहारे, निःसहारे,
टुक-टुकुर अवलोक
इसपेलिंग करके बाँचते,
रुक-रुक, पचाते इसे,
अपने पुरा अर्जित ज्ञान का
उपभोग करते,
धीर धरते,
किए हिम्मत
लिए आशा,
ज़िंदगी की राह नापे जा रहे हैं,
सर्वदा से यही सुनते, यही कहते—
वक़्त अच्छे आ रहे हैं !

दानवों का शाप

देवताओ !
दानवों का शाप
आगे उतरता है !

सिंधु-मंथन के समय
जो छल-कपट,
जो क्षुद्रता,
जो धूर्तता,
तुमने प्रदर्शित की
पचा क्या काल पाया,
भूल क्या इतिहास पाया ?
सह भले ली हो, विवश हो,
दानवों ने ;
क्षम्य कब समझी उन्होंने ?
सब प्रकार प्रवंचितों ने
शाप जो उस दिन दिया था
आज आगे उतरता है ।

जानते तुम थे
कि पारावार-मंथन
हो नहीं सकता अकेले देव-बल से ;
दानवों का साथ औ' सहयोग
चाहा था इसीसे ।
किन्तु क्या सम साधना-श्रम की व्यवस्था,
उभय पक्षों के लिए,
तुमने बनाई ?
किया सोचो,
देवताओ !
जब मथानी के लिए
मंदर अचल तुमने उखाड़ा
और ले जाना पड़ा उसको जलधि तक
मूल का वह भीम-भारी भाग
तुमने दानवों की पीठ पर लादा
शिखर का भाग हल्का
तुम चले कर-कंज से अपने सँभाले ।
दानवों की पिंडलियाँ चटकीं,
कमर टूटी,
हुई दृढ़ रीढ़ टेढ़ी,
खिंची गर्दन,
जीभ नीचे लटक आई,
तन पसीने से नहाया,
आँख से औ' नाक से

लोहू बहा,
मुँह से अकरपन फेन छूटा ;
औ' तुम्हारे कंज-पद की
चाप भी अंकित न हो पाई धरा पर !

और बासुकि-रज्जु
मंदर की मथानी पर
लपेटी जब गई तब
किया तुमने दानवों को
सर्प-फन की ओर
जिनके थप्पड़ों की चोट
मंथन में अनवरत
झेलते वे रहे क्षण-क्षण !
और खींचा-खींच में जो
नाग-नर ने
धूम्र-ज्वाला पूर्ण शत-शत
अंधकर फूत्कार छोड़े
और फेंके
विषम कालानल हलाहल के तरारे
ओड़ते वे रहे उनको
वीरता से, धीरता - गंभीरता से—मष्ट मारे ;
जबकि तुमने
कंज - कर से
नागपति की पूँछ

सहलाई—दुही भर !

अंत में जब
अमृत निकला,
ज्योति फैला,
तब अकेले
उसे पीने के लिए
षड्यंत्र जो तुमने रचा
सब पर विदित है ।
एक दानव ने
उसे दो बूंद चखने का
चुकाया मोल अपना शीश देकर ।

(औ' अमृत पीकर
अमर जो तुम हुए तो
बे-पिए क्या मर गए सब दैत्य-दानव ?
आज भी वे जी रहे हैं,
आज भी संतान उनकी
जी रही दूधों नहाती,
और पूतों और पोतों
फल रही है, बढ़ रही है ।)

छल-कपट से,
क्षुद्रता से,

धूर्तता से,
सब तरह वंचित उन्होंने
शाप यह उस दिन दिया था :—

सृष्टि यदि चलती रही तो
अमृत-मंथन की ज़रूरत
फिर पड़ेगी !
और मंथन—
वह अमृत के
जिस किसी भी रूप की ख़ातिर
किया जाए—
बिना दो देव-दानव पक्ष के
संभव न होगा ।
किंतु अब से
मंदराचल मूल का
वह कठिन, ठोस, स्थूल, भारी
भाग देवों की
कमर पर,
पीठ-कंधों पर पड़ेगा,
और दानव शिखर थामे
शोर भर करते रहेंगे,
'अमृत ज़िंदाबाद, ज़िंदा—!'
ख़ास उनमें
अमृत पर व्याख्यान देंगे ।

और मंथन-काल में भी
देवतागण सर्प का मुख-भाग
पकड़ेंगे,
फनों की चोट खाएँगे,
ज़हर की फूँक घूँटेंगे,
मगर दल दानवों के
साँप की बस दुम हिलाएँगे ;
अमृत जब प्राप्त होगा
वे अकेले चाट जाएँगे ।

सुनो, हे देवताओ !
दानवों का शाप
आगे आज उतरा ।

यह विगत संघर्ष भी तो
सिंधु-मंथन की तरह था ।
जानता मैं हूँ कि तुमने भार ढोया,
कष्ट झेला,
आपदाएँ सहीं,
कितना ज़हर घूँटा !
पर तुम्हारा हाथ छूँछा !
देवता जो एक-
दो बूँदें अमृत की
पान करने को, पिलाने को चला था,

बलि हुआ !
लेकिन जिन्होंने
शोर आगे से मचाया,
पूंछ पीछे से हिलाई,
वही खीस-निपोर,
काम-छिछोर दानव
सिंधु के सब रत्न-धन को
आज खुलकर भोगते हैं।
बात है यह और
उनके कंठ में जा
अमृत मद में बदलता है,
और वे पागल नशे में
हद, हया मरजाद
मिट्टी में मिलाकर
नाच नंगा नाचते हैं !
और हम-तुम
उस पुरा अभिशाप से
संतप्त-विजड़ित
यह तमाशा देखते हैं !

अंधा, पर गूंगा-बहरा युग नहीं

अन्धेनेय युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च॥

—महाभारत, सभापर्व

—और अंधा युग
अगर आया हुआ है,
बाहरी कटु-कालिमा,
कद-रूपता को
छल-विशद परिधान के
अंदर छिपाकर
देश पर छाया हुआ है,
जाति पर षड्यंत्र से पाई
सफलता के नशे में झूमता है,
और चाँदी की अनोखी
रेवड़ियों को
मूठ भर-भर बाँटता है
स्वार्थ-साधक, धृष्ट, शिष्टाचार-भूले लोभियों में
जो कि धक्कमपेल कर आगे बढ़े हैं,

घेरकर उसको खड़े हैं
और उसकी चाटुकारी में
ज़बानें तोड़ते, चटख़ारते हैं ;
(गोकि अपना भाग हथियाना
नहीं वह भूलता है ।)
जबकि वे
पीछे पड़े, नीचे दबे
विस्मृत, उपेक्षित हो रहे हैं
जो समय की माँग पर
हैं त्याग औ' बलिदान करते,
किंतु अपने काम को
ढोलक गले में डालकर के
डिमडिमाना बदतमीज़ी समझते हैं ;
जो कि अपनी
योग्यता - सामर्थ्य के बल
साधना-तप में निरंतर लीन रहते
दूर रहकर
शोर-गुल-अख़बार-विज्ञापन-जगत से
टेक रखकर, आत्मविश्वासी,
कि पीछे वे नहीं युग के फिरेंगे,
अनुसरण उनका करे युग
अगर चाहे ;
जो कि बहुसंख्यक
बजाने, अल्प जाने, स्वल्प माने

सरल जन-गण,
जो कि जीवन-विश्व की सब
हलचलों, आंदोलनों का
मुख्य, मुश्किल भार
अपनी पीठ के ऊपर उठाते
और तिल-तिल,
पिसे रहकर,
मानवी इतिहास के दृढ़, दीर्घ दुर्मग
जगन्नाथी यान को
आगे बढ़ाते ;
तो न केवल,
क्षुद्र ऊँचे चढ़ गए हैं,
उच्च नीचे जा पड़े हैं,—
उच्चता औ' नीचता के माप गो बाहर नहीं हैं—
सभ्यता के
ध्रुव सनातन मूल्य
विघटित हो रहे हैं,
मनुजता
कुंठित, पराजित हो रही है,
आस्थाएँ टूटतीं,
विश्वास का दम घुट रहा है ।
इसलिए वाणी-सुतों से
आज प्रत्याशा
कि वे मत मौन बैठें ;

अक्षरों के घरहरों पर चढ़ करें
चेतावनी - उद्घोष प्रोज्ज्वल !

हम कभी इतिहास को कहने न देंगे
अंध युग ही नहीं, यह युग मूक भी था ।
याद हम रक्खें
कबीरा, सूर, तुलसी की
अमर, निर्भीक, आशावान वाणी बोलते हम,
जो कि ऐसे ही कठिन, अंधेर-कुंठित,
अंध युग में जन्म
जन-संबल हुई थी ।
और यह दायित्व तुम लो—
तुम कि जो
मैथिलीशरण, प्रसाद,
नरनाहर निराला, पंत, दिनकर के
स्वरों से प्रेरणा लेते रहे हो—
तुम कभी इतिहास को कहने न दोगे
अंध युग ही नहीं, यह युग बधिर भी था ।